सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार

नए योग साधकों के लिए एक
सरल और स्पष्ट मार्गदर्शन की पुस्तक

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

प्रकाशक दर्शन योग महाविद्यालय

ओ३म्

सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार

लेखक

स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक

प्रकाशक

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, ता. तलोद,
जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७
दूरभाष : (०२७७०) २८७४१८, २८७५१८
चलभाष : ९४०९४ १५०११, ९४०९४ १५०१७

Email : darshanyog@gmail.com • **Website :** www.darshanyog.org

Youtube : darshanyog2009 • **Facebook / Orkut / Skype :** darshanyog

पुस्तक : सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार

लेखक : स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक

प्रकाशन तिथि : कार्तिक शुक्ल 2070,

संस्करण : एकादश

मूल्य : 25 रुपये

प्राप्ति स्थान

अहमदाबाद : वैदिक संस्थान : ओढव – 079–22972340, आर्यसमाज, रायपुर दरवाजा बाहर–079–25454373, **दिल्ली** : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क–011.23977216, आर्य प्रकाशन : अजमेरी गेट – 9768244958, आर्य प्रतिनिधि सभा, हनुमान रोड–011–23360150, **अजमेर** : ऋषि उद्यान : 0145 –2632572, **राउरकेला** : श्रुति न्यास : 9392 14912, **आमसेना** : गुरुकुल आश्रम : 78731 11213, **होशंगाबाद** : गुरुकुल महाविद्यालय : 07574 – 275788, गाँधीधाम : श्री चंन्द्रेश जी आर्य : 94274 58494, **निलंगा** : विजय वस्त्र भंडार : 94233 49409, लोहारु : पतंजलि आरोग्य केन्द्र, आर्यसमाज : 97284 55044, आर्य समाज मन्दिर : पोरबंदर – 94287 03176, राजकोट – 0281 – 2231146, भरुच – 02642 – 225671, मोरबी – 98983 99912, टंकारा – 98793 33348, जूनागढ़ – 0285 – 2626435, गांधीनगर – 99247 51191, आणंद – 94278 58935, जामनगर – 0288 – 2550220, भावनगर – 0278 – 2571116, सुरत – 93282 70373,

विषय निर्देशिका

भूमिका

इस पुस्तक के पुनः प्रकाशन (इस तृतीय संस्करण) में कुछ वाक्यों में आवश्यक परिवर्तन, संशोधान किया गया है। द्वितीय संस्करण के मुद्रण दोष भी दूर कर दिये गये हैं।

पुस्तक का नाम जो रखा है- 'सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार' इसका तात्पर्य है- वैदिक योग = (पातञ्जल अष्टाङ्ग योग) को ही 'सरल भाषा' में प्रस्तुत करना। इस 'सरल योग' शब्द का तात्पर्य यह नहीं है कि यह वैदिक योग से भिन्न कोई अन्य प्रकार का योग है।

यह पुस्तक सर्वथा नवीन योग जिज्ञासुओं को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। अतः इसमें योग का विषय मण्डन प्रधान रखा गया है।

इस पुस्तक में योग का स्वरूप, योग का फल, योग के साधन, योग के बाधक, योग के आठ अङ्गों का स्वरूप, प्रत्येक मनुष्य के लिए योगाभ्यास की अनिवार्यता, लौकिक सुख से व्यक्ति की कामनाओं का पूर्ण न होना, योगी बनकर ब्रह्म प्राप्ति से ही मानव-जीवन की सफलता, ईश्वर-जीव-प्रकृति इन तीन पदार्थों की परस्पर भिन्नता, समस्त विश्व की समस्याओं का समाधान, ब्रह्म की प्राप्ति, इस विश्वकल्याण कारक योग को सफल बनाने के लिए ईश्वर की प्रार्थना इत्यादि अनेक विषयों को सरल भाषा में बतलाने का प्रयास किया गया है। समस्त संसार में यह विशुद्ध योग प्रचलित हो, यह अभिलाषा है। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस शुभकार्य में सहायता प्रदान करें।

सभी विद्वान् महानुभावों से निवेदन है कि इस पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् इसमें जो त्रुटि प्रतीत हो, उससे हमें अवगत करावें। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से त्रुटि के सिद्ध हो जाने पर, उसे अवश्य ही स्वीकार किया जायेगा। किन्तु प्रमाणों से सिद्ध न होने पर अथवा पक्षपात से बताने पर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

।। ओ३म्।।

सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार

प्रार्थना

परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२ऽअनु।।

(यजुर्वेद, अ. 4-28)

भाषार्थ - हे (अग्ने) विज्ञानस्वरूप दयालु जगदीश्वर! आपकी कृपा से जिस कर्म के द्वारा मैं (स्वायुषा) सुन्दर जीवन के साथ और (आयुषा) इस जीवन से (अमृतान्) मोक्ष को प्राप्त सदेह और विदेह विद्वानों को अथवा मोक्ष के आनंद रूप उत्तम-भोग एवं अमृतमय भोगों को (उदस्थाम्) उत्कृष्ट रीति से प्राप्त करूँ, उससे (मा) मुझे संयुक्त करके (दुश्चरितात्) बुरे आचरण से (परि उत्बाधस्व) सब ओर से हटा और उससे अलग करके (मा) मुझे (सुचरिते) उत्तम धर्मयुक्त व्यवहार में (अनु-आ-भज) अनुकूलतापूर्वक सब ओर से स्थापित कर। (स्वामी दयानन्द जी सरस्वती कृत भाष्य)।

जिस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के सामर्थ्य से समस्त संसार के प्राणी जीवित हैं, और जिस के द्वारा प्रदत्त ज्ञान, बल, शरीर, इन्द्रिय आदि साधनों से अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होते हैं, उसी परमात्मा से मैं प्रार्थना करता हूँ कि इस विश्व-कल्याणप्रद योग के कार्य को सफल बनाने में सब प्रकार की सहायता प्रदान करे जिससे सभी भूगोल के मनुष्य समस्त दु:खों से छूटकर आप के नित्यानन्द को प्राप्त कर सकें तथा अन्य पशु आदि प्राणियों को भी सुख पहुँचा सकें।

योग का प्रत्येक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध

प्रत्येक व्यक्ति सदा दु:खों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहता है, परन्तु ऐसा आनन्द योग के बिना संभव नहीं है, अत: प्रत्येक व्यक्ति के लिए योग का अनुष्ठान अनिवार्य है। चाहे पाँच या आठ वर्ष का बालक हो, चाहे युवा हो और चाहे वृद्ध हो, स्त्री हो वा पुरूष हो,

प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति का आधार योग है। व्यवसाय की दृष्टि से भी प्रत्येक मनुष्य के साथ योग का सीधा सम्बन्ध है। चाहे कोई खेती करने वाला हो अथवा अध्यापक, चिकित्सक हो अथवा किसी भी प्रकार का व्यापार करने वाला हो, समस्त व्यवसायों में योगाभ्यास मनुष्यमात्र को सफलता प्रदान करता है, क्योंकि अविद्या, असत्याचारण, मिथ्या-उपासना और सभी दुःखों का विनाश तथा विद्या, सत्याचरण, सत्योपासना और ईश्वर के नित्यानन्द की प्राप्ति योग से ही होती है।

योग का किसी भी सम्प्रदाय व देश से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति योग के माध्यम से अपने जीवन को उन्नत बना सकता है, इसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। हाँ, योग के आठ अंगो का आचरण किये बिना कोई भी मनुष्य वास्तविक योगी नहीं बन सकता। वास्तविक योगी बने बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता तथा ईश्वर-साक्षात्कार के बिना मनुष्य-जीवन सफल नहीं होता।

योग के आठ अंग

योग के आठ अंग ये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। जो व्यक्ति मन, वचन और शरीर से इन आठ अंगों का पालन करता है, वह अपने जीवन में पूर्णरूपेण सफल हो जाता है। योगांगों के आचरण को छोड़कर मानव-जीवन की सफलता का और कोई भी कारण नहीं है, क्योंकि योग द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार से नित्यानन्द की प्राप्ति और समस्त क्लेशों की निवृत्ति होती है। लौकिक सुख और सुख के साधनों से ऐसी सफलता कभी भी सम्भव नहीं है।

योग की परिभाषा

वर्तमान काल में भूगोल के अनेक देशों में योग का बहुत प्रचार-प्रसार हुआ है और बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित किया गया है। इस समय योग के अनेक नाम प्रचलित हैं, जैसे कि राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, सहजयोग, जपयोग इत्यादि। वास्तव में जिस योग से ब्रह्म की प्राप्ति अथवा मोक्ष=मुक्ति= अपवर्ग की प्राप्ति और सभी दुःखों

का नाश तथा नित्यानन्द मिलता है, ऐसा योग तो एक ही है, अनेक नहीं। हाँ, उसके नाम अनेक हो सकते हैं जैसे कि ईश्वर एक ही है और उसके नाम अनेक हैं। योग शब्द से अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं, परन्तु यहां पर अनेक अर्थों पर विचार नहीं किया जाएगा। इस लेख में तो उसी योग पर विचार किया जाएगा जो वैदिक योग है, जिसका आचरण आदि-सृष्टि से ऋषि लोग करते और करवाते आये हैं। इसी का नाम पातंजल योग भी है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (योग दर्शन 1/2)

चित्त की वृत्तियों को रोक देना योग है। इसी का दूसरा नाम समाधि भी है। चित्त में विविध प्रकार की वृत्तियाँ/तरंगे उभरती हैं, उनको वृत्ति अर्थात् व्यापार कहते हैं। चित्त की सभी वृत्तियों की संख्या की परिगणना अत्यंत कठिन है। चित्त वृत्तियों को एक दृष्टि से देखा जाए तो वे दो विभागों में विभाजित हो जाती हैं। एक क्लिष्ट और दूसरी अक्लिष्ट। जो वृत्तियाँ क्लेशों को=दुःखों को उत्पन्न करती हैं और अज्ञान की ओर ले जाती हैं वे क्लिष्ट होती हैं तथा जो सुख को उत्पन्न करती है और ज्ञान की ओर ले जाती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। यदि वृत्तियों को ज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो वे पाँच विभागों में विभाजित हो जाती हैं। वे पाँच विभाग हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन वृत्तियों को रोकने से योग की सिद्धि होती है। योग के मुख्य रूप से दो भेद हैं- एक सम्प्रज्ञात और दूसरा असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात योग को सबीजसमाधि, सम्प्रज्ञातसमाधि तथा चित्त की एकाग्रता भी कहते हैं और असम्प्रज्ञात योग को निर्बीजसमाधि, असम्प्रज्ञातसमाधि तथा चित्त की निरूद्धावस्था भी कहते हैं।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातयोग में भेद

सम्प्रज्ञात योग में साधक भूमि, जल, अग्नि आदि स्थूल पदार्थों में तथा तन्मात्रादि सूक्ष्म पदार्थों में अपने चित्त को लम्बे काल तक एकाग्र करने में समर्थ हो जाता है और प्रकृति से बने हुए पदार्थों के

वास्तविक स्वरूप को जानकर अपने तथा अन्यों के अनेक प्रयोजन सिद्ध करता है। जैसे भौतिक वैज्ञानिक प्रकृति से बने स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को यन्त्रों द्वारा जानकर अपने और दूसरों के अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं वैसे ही योगी लोग भी करते हैं। इन दोनों में इतना अन्तर है कि योगी इन पदार्थों का परिज्ञान मुख्यरूपेण चित्त के द्वारा करते हैं और भौतिक वैज्ञानिक मुख्यरूपेण यन्त्रों के द्वारा करते हैं। सम्प्रज्ञातसमाधि में साधक छोटे पदार्थ में और बड़े-से-बड़े पदार्थ में लम्बे कालपर्यन्त अधिकारपूर्वक अपने चित्त को रोकने में सफल हो जाता है। सम्प्रज्ञात योग के सिद्ध होने पर योगी यह अनुभव करता है कि मैं बन्धन से छूटकर स्वतन्त्र हो गया हूँ और मेरा बहुत-सा अज्ञान नष्ट हो गया है। इत्यादि।

सम्प्रज्ञातयोग के सिद्ध होने पर असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि

सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होने पर योगी सम्प्रज्ञातयोग से भी विरक्त हो जाता है, अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग में भी वह दोष देखने लगता है और उसका परित्याग कर देता है। असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होने पर योगी को ईश्वर का साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष होता है और उससे दुःखरहित विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में योगी यह अनुभव करता है कि 'प्राप्तं प्रापणीयम्' अर्थात् जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त हो गया है अब और प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रही है। इस प्रकार से मुख्यरूपेण योग के दो स्तर हैं। सम्प्रज्ञातयोग प्रारम्भिक है और असम्प्रज्ञातयोग ऊँची-अंतिम अवस्था है। ये योग की दो नीची और ऊंची अवस्थाएँ हैं, स्वतन्त्र अर्थात् पृथक-पृथक् दो योग नहीं हैं। सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग का साधन है और असम्प्रज्ञातयोग उसका साध्य है, अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि किये बिना असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा समझना चाहिए।

योग में चित्त का परिज्ञान आवश्यक है

योग के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए चित्त के विषय में जानना आवश्यक है। चित्त के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानकर ही

मनुष्य योगमार्ग में प्रवेश कर सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। चित्त एक जड़ वस्तु है क्योंकि वह जड़ वस्तुओं के संयोग से बना है अर्थात् चित्त का उपादानकारण जड़ है, अतः चित्त भी जड़ है अर्थात् ज्ञान रहित है। जैसे कि रोटी जड़ है, क्योंकि वह जड़ वस्तु आटे से बनी है वैसे ही चित्त भी सत्त्व, रज, तम, इन तीन वस्तुओं से बना है, इसी कारण से वह जड़ है। जो वस्तु जड़ वस्तुओं के संयोग से बनेगी वह चेतन अर्थात् ज्ञानयुक्त कभी भी नहीं होगी। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति कभी भी नहीं होती और भाव से अभाव की उत्पत्ति भी कभी नहीं होती। चित्त जीवात्मा का अन्तःकरण है अर्थात् आन्तरिक साधन है। पूर्वकाल में देखी हुई वस्तुओं का अथवा सुनी हुई बातों का जीव चित्त के द्वारा स्मरण करता है। बाह्य इन्द्रियों के साथ चित्त को सम्बद्ध करके जीव बाहर के विविध पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार से जीव कार्यों का सम्पादन करता है। जीव चेतन है अर्थात् ज्ञानवान् है और चित् ज्ञानरहित है। जीव शुभ और अशुभ कर्म करने में स्वतन्त्रकर्ता है और चित्त जीव का साधन है। जैसे कि कार साधन है और कार को चलाने वाला कार के चलाने में स्वतन्त्र कर्त्ता है। कार जड़ है और कार का चालक चेतन है, ऐसा जानना चाहिए।

योगाभ्यासी व्यक्ति चित्त को जड़ समझकर ही उसका प्रयोग करें

योगाभ्यासी व्यक्ति चित्त को जड़ समझकर ही सांसारिक कार्यों को सिद्ध करें और जड़ समझकर ही चित्त के द्वारा योग को भी सिद्ध करे। जो व्यक्ति चित्त को चेतन मानकर कार्यों को करता है, उसे सफलता नहीं मिलती। चित्त को चेतन मानने पर व्यक्ति जो कार्य करने योग्य हैं, उन्हें नहीं कर पाता और जो कार्य करने योग्य नहीं हैं अर्थात् हानिकारक हैं उन्हें कर लेता है। जैसे कि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को बुरी दृष्टि से देखना नहीं चाहता, परन्तु चित्त को चेतन मानकर वह दूसरे व्यक्ति को बुरी दृष्टि से नहीं देखना चाहता, परन्तु

मेरा मन नहीं मानता, अतः ऐसा करता हूँ। यह अवस्था जड़ चित्त को चेतन मानने से उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति चित्त को जड़ समझता है तो उसे बुरे कार्यों से रोक कर अच्छे सांसारिक कार्यों को सिद्ध करता हुआ योग को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। मन को जड़ समझने पर ही अनेक मानसिक क्लेशों-चिन्ताओं को रोका जा सकता है अन्यथा नहीं। योगाभ्यासी व्यक्ति को यह बात अच्छी प्रकार से समझ लेनी चाहिए कि कौन सी वस्तु जड़ है और कौन सी वस्तु चेतन है। इस जड़-चेतन के परिज्ञान से लौकिक और योगमार्ग में आने वाली अनेक बाधाएँ दूर हो जाती है। संक्षिप्त रूप से जड़ और चेतन का लक्षण यह जानना चाहिए कि जिस वस्तु में ज्ञान है, वह चेतन है और जो वस्तु ज्ञानरहित है, वह जड़ है। जैसे कि मनुष्य चेतन है और पत्थर जड़ है। चेतन पदार्थ की यह विशेषता है कि वह अनुभव करता है और जड़ पदार्थ अनुभव नहीं करता। चेतन पदार्थ सुख-दुःख, हानि-लाभ, अच्छे-बुरे को जानता है, परन्तु जड़ पदार्थ इन बातों को नहीं जानता।

जड़ और चेतन वस्तुओं का विभाग

ईश्वर और जीव चेतन पदार्थ हैं और प्रकृति जड़ पदार्थ है। ईश्वर एक ही है और जीव अनेक हैं। सांख्यदर्शन की भाषा में सत्त्व, रज और तम इन तीनों को मिलाकर प्रकृति कहते हैं। इन तीनों को लेकर ईश्वर इस संसार की रचना करता है। इन तीनों से बने हुए कार्य (=संसार) को विकृति कहते हैं। सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था का नाम प्रकृति और विषमावस्था का नाम विकृति है। प्रकृति से बने सभी पदार्थ जड़ हैं अर्थात् ज्ञानरहित हैं। संक्षिप्त रूप से ईश्वर और जीव चेतन हैं और प्रकृति तथा प्रकृति से बने हुए सभी पदार्थ जड़ हैं, ऐसा समझना चाहिए। जो व्यक्ति जड़ और चेतन पदार्थों को ठीक प्रकार से जानकर उनका उचित प्रयोग करता है, वह आवश्यक लौकिक कार्यों को सिद्ध करके पुनः योग के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करके अपने और अन्यों के जीवन को सफल बनाने में समर्थ हो जाता है। ऐसी सफलता इससे भिन्न प्रकार का व्यक्ति कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए

जड़ और चेतन का विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करके अपने कर्म और उपासना को भी विशुद्ध बनाना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। इस विधि के बिना मनुष्य जीवन सफल नहीं हो सकता।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ

जिस चित्त की वृत्तियों को रोकने से योग की सिद्धि होती है उस चित्त की पाँच अवस्थाएँ होती हैं-क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। योग जिज्ञासु को इन पाँच अवस्थाओं का परिज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। ये अवस्थाएँ चित्त में तीव्रगति से परिवर्तित होती रहती है। कभी क्षिप्त, कभी मूढ़ और कभी विक्षिप्त, कभी एकाग्र और कभी निरूद्धावस्था उपस्थित होती है। अपने ज्ञान और परिश्रम से व्यक्ति निचली अवस्थाओं को हटाकर, जो उत्तम है उसको उपस्थित कर सकता है। जैसे कि इन पाँच अवस्थाओं में निरूद्धावस्था उत्तम है। साधक निचली चार अवस्थाओं को रोककर निरूद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। यदि व्यक्ति ज्ञान, वैराग्य और अभ्यास को प्रयोग में नहीं लाता तो निरूद्धावस्था हट जाती है और क्षिप्त आदि निचली अवस्थाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

पाँच अवस्थाओं का संक्षिप्त रूप

पाँच अवस्थाओं का रूप इस प्रकार से है :-

क्षिप्त अवस्था - चित्त की जो विविध विषयों के ग्रहण में अतितीव्र गति है, जिसमें अल्पकाल में ही अनेक विषयों को ग्रहण कर लेता है। उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं। ग्रहण किये गये विषयों का जो ग्रहण करने वाला जीव है, उसे प्रायः पता भी नहीं चलता कि कब किस विषय को ग्रहण किया गया है। जैसे कि एक बालक को एक खिलौना दे दिया जाए तो वह बालक उस खिलौने को छोड़कर समीप में विद्यमान अन्य खिलौनों को ग्रहण कर लेता है। यदि उस बालक के आस-पास में अन्य वस्तुएँ विद्यमान हों तो उन वस्तुओं को भी लेने का प्रयास करता है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का मन इसी प्रकार चंचल होता है और ऐसा मन व्यक्ति के अधिकार से प्रायः बाहर हो जाता है। इसी अवस्था

का नाम क्षिप्त है।

मूढ़ावस्था – मूढ़ावस्था का अभिप्राय है मूर्छित अवस्था, निद्रावस्था आदि। जब व्यक्ति को किसी भी विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता अथवा अत्यंत अल्प अनुभूति होती है, कोई विशेष परिज्ञान नहीं होता, ऐसी सभी अवस्थाओं को मूढ़ावस्था में गिना जाता है।

विक्षिप्तास्था – जब साधक 'ओ३म्' के जप अथवा किसी अन्य वेदमन्त्र के माध्यम से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है तब किसी बाहर के कारण से अथवा आन्तरिक कारण से मन की एकाग्रता भंग हो जाती है, इसी को विक्षिप्तावस्था कहते हैं। जैसे कि एकान्त-शान्त वातावरण में रखे हुए दीपक की लौ वायु आदि कारणों से टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाले बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अनेक विषय हैं अथवा चित्त के माध्यम से उठाई गई स्मृति भी एकाग्रता को भंग करने में आन्तरिक कारण है। इसी प्रकार से निद्रा और आलस्य आदि भी एकाग्रता को भंग करने में कारण हैं। जब साधक ईश्वर का ध्यान करता है और उसकी स्थिति ठीक होती है, अर्थात् ईश्वर का ध्यान अच्छे प्रकार से प्रारंभ हो जाता है, इस अवस्था में बाहर से एक ऊँची ध्वनि सुनाई देती है, उस ध्वनि के कारण चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है। इसी प्रकार से आंख खोलकर ध्यान करने में रूप भी नवीन साधक की एकाग्रता को भंग कर देता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय भी चित्त की एकाग्रता को भंग करते हैं। चित्त की एकाग्रता को भंग करने में स्मृतिवृत्ति भी कारण है। जब योगाभ्यासी ध्यान करता है तो पूर्व अनुभव किये हुए विषयों को स्मरण कर लेता है, उससे चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है। जैसे कि किसी व्यक्ति ने बीस वर्ष पूर्व बहुत स्वादिष्ट भोजन बार-बार तल्लीन होकर खाया हो, उसी स्वादिष्ट भोजन की साधक ध्यानकाल में स्मृति कर लेता है तो उस स्मृति से चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है। इसी प्रकार से ध्यान काल में निद्रा व आलस्य आने पर भी एकाग्रता भंग हो जाती है। इस प्रकार जिस अवस्था में योगाभ्यासी

के विशेष प्रयास से चित्त एकाग्रावस्था में आता है और किसी बाहर के अथवा आंतरिक कारण से चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है, उसे विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

एकाग्रावस्था – जब योगाभ्यासी व्यक्ति यम, नियम आदि योग के अंगों का पूरी शक्ति से पालन करता है और निष्काम भावना से अन्य प्राणियों का उपकार करता हुआ विवेक–वैराग्य को प्राप्त कर लेता है, तो चित्त पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके बड़ी–से–बड़ी और छोटी–से–छोटी वस्तु में अपनी इच्छा के अनुसार लम्बे कालपर्यन्त चित्त को ठहराने में समर्थ हो जाता है। इस अवस्था में बाह्य और आन्तरिक रूप से चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाले बाधकों को वह रोकने में समर्थ/सफल हो जाता है। इस अवस्था में साधक निर्भयता का अनुभव करता है और बुद्धि के स्तर पर आकाशवत् अवस्था का अनुभव करता है। इस एकाग्रता की प्राप्ति होने पर सांसारिक तीव्र एषणाएँ भी साधक को शीघ्र विचलित नहीं कर सकतीं। इस अवस्था में साधक यह भी अनुभव करता है कि मैं एक कारागार से छूटकर स्वतन्त्रता के क्षेत्र में पहुँच गया हूँ। इस अवस्था का नाम एकाग्रता है और योगदर्शन की भाषा में इसको सम्प्रज्ञातसमाधि भी कहते हैं।

निरूद्धावस्था– एकाग्रता के पश्चात् पाँचवीं निरूद्धावस्था है। जब साधक एकाग्रता का अभ्यास करते–करते परमात्मा का अनुभव करने लगता है तो उस साधक को विशिष्ट ज्ञान के कारण एकाग्रावस्था में भी दोष दीखने लगतें हैं। उन दोषों के कारण एकाग्रावस्था से भी वैराग्य हो जाता है, अर्थात् उस एकाग्रावस्था को भी छोड़ देता है और ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वर का साक्षात्कार होता है और नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके योगाभ्यासी यह अनुभव करता है कि मुझे जो प्राप्त करना था वह कर लिया है। अब कोई भी ऐसी वस्तु शेष नहीं रही है कि जिसे प्राप्त करके मैं इस आनन्द से अधिक आनन्द का अनुभव करुँ। ईश्वर में अनन्त आनन्द है और ईश्वर को छोड़कर किसी भी वस्तु में ईश्वर जैसा आनन्द नहीं है।

जीव में आनन्द है ही नहीं और जो प्रकृति में अथवा प्रकृति से बनी हुई वस्तुओं में सुख है वह क्षणिक है और दुःख मिश्रित है। इस कारण साधक यह अनुभव करता है कि अब और कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है। ईश्वर के इस नित्यानन्द को प्राप्त करने पर व्यक्ति की सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जाती है। अन्य कोई भी साधन संसार में ऐसा नहीं है जो कि समस्त कामनाओं को पूरा कर सके।

इन पाँचों अवस्थाओं का परिज्ञान होने पर साधक जिस अवस्था को हानिकारक समझता है, उसे रोक देता है और जिसको लाभप्रद समझता है उसको बनाये रखता है। मनुष्य का पूर्णकल्याण करने वाली निरूद्धावस्था ही है, क्योंकि इस अवस्था में ही समस्त क्लेशों का नाश और दुःखरहित नित्यानन्द की उपलब्धि होती है। योग की ऊँची और परिपक्व स्थिति हो जाने पर योगाभ्यासी पूर्ण दैनिक जीवन में इस अवस्था को बनाये रखने में सफल हो जाता है। यही मानव का वास्तविक जीवन है, इससे भिन्न प्रकार के किसी भी जीवन को सफल जीवन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अवस्था में सभी बन्धनों का नाश और वास्तविक स्वतन्त्रता है, जो अन्य किसी जीवन में उपलब्ध नहीं है। इसलिए महर्षि कपिलाचार्य ने कहा है कि **'कुत्रापि को ऽपि सुखी न'** (सां. 6/7) संसार में कोई भी मनुष्य पूर्ण सुखी नहीं है। यह बात यहाँ पर जानने योग्य है कि ऐसी पूर्ण योग की स्थिति प्राप्त व्यक्ति को भी निद्रा काल में यह अवस्था उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि निद्रा काल में तमोगुण प्रधान होता है, जो समाधि को भंग कर देता है। निद्रा की परिसमाप्ति के पश्चात् योगी पुनः निरूद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है और फिर ईश्वर के आनन्द का अनुभव करता है। योगी सोने की इच्छा नहीं करता, परन्तु शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उसे सोना पड़ता है।

योग का मुख्य फल

जब योगाभ्यास करते-करते योगी योग की ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब अपने स्वरूप को विशुद्धरूप में जान लेता है अर्थात् सत्त्व, रज, तम और इन तीनों के मिश्रण से उत्पन्न सूक्ष्म, स्थूल

समस्त संसार की वस्तुओं से स्वयं को पृथक जानता है और ईश्वर का साक्षात्कार कर उसके स्वरूप में स्थित होकर आनन्द का अनुभव करता है, जैसे मुक्ति में जीवात्मा पूर्णानन्द और स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। वैसे ही योग की ऊँची स्थिति को प्राप्त कर शरीर के विद्यमान रहते हुए भी मुक्ति जैसा अनुभव करता है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच प्रकार के क्लेशों की परिसमाप्ति हो जाती है। इसी बात को यजुर्वेद में कहा है कि **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजु. 31/18) उसी ईश्वर को जानकर मनुष्य मृत्यु आदि सभी दुःखों से छूट जाता है, और कोई मार्ग दुःखों से छूटने का नहीं है।

पाँच वृत्तियों का स्वरूप

1. प्रमाणवृत्ति का स्वरूप

प्रमाणवृत्ति के तीन भाग हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

प्रत्यक्ष– आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है और मन इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है, इन्द्रियाँ बाहर के विषयों के साथ संयुक्त होती हैं। इस अवस्था में श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, त्वचा इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है, नेत्र से रूप का ज्ञान होता है, घ्राण से गन्ध ा का ज्ञान होता है, रसना से रस का ज्ञान होता है। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के द्वारा पाँच विषयों का जो भ्रान्ति और संशयरहित ज्ञान होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण योगाभ्यास में बाधा डालता है, अतः योगाभ्यास करते समय इसे रोक दिया जाता है, परन्तु व्यवहार काल में प्रत्यक्ष प्रमाण से अनेक लौकिक कार्यों की सिद्धि की जाती है। जैसे कि एक व्यक्ति कार को चलाते समय प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा मार्ग को जानकर अपने उद्देश्य पर पहुँच जाता है और योगाभ्यास करते समय प्रत्यक्ष प्रमाण को रोक देताहै। इसी प्रकार से पाँचों इन्द्रियों के विषय में जानना चाहिए और उस प्रत्यक्ष प्रमाण का लौकिक कार्यों में प्रयोग करना चाहिए।

अनुमान– जब किसी वस्तु को व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से देख लेता है और कालान्तर में उस प्रत्यक्ष प्रमाण से देखी हुई वस्तु के किसी एक भाग को देखता है तो उससे अनुमान लगा लेता है कि वह पूर्वकाल में देखी वस्तु यहाँ पर है। जैसे कि किसी व्यक्ति ने पाकशाला में अग्नि को प्रत्यक्षप्रमाण से देखा और अग्नि के साथ धुएँ को भी देखा और उसके पश्चात् किसी अन्य स्थान पर केवल धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया कि यहाँ पर भी वैसी ही अग्नि है जैसी कि मैंने पाकशाला में देखी थी। यह अनुमान प्रमाण भी योगाभ्यास करते समय बाधक होता है, अतः योगाभ्यास काल में उसे भी रोक दिया जाता है। जैसे कि कोई योगाभ्यासी ध्यान काल में आँख खोलकर बैठे और उसको कहीं धुआँ निकलता दिखाई देवे, उस धुएँ को देखकर वह साधक यह विचार करे कि जहाँ पर यह धुआँ है वहाँ पर अग्नि भी होगी। जब योगाभ्यासी इस प्रकार से अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है तो योग में बाधा उपस्थित होती है, अतः अनुमान को योगाभ्यास करते समय रोक दिया जाता है, परन्तु व्यवहार काल में अनुमान प्रमाण से अनेक लौकिक कार्यों की सिद्धि की जाती है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।

आगम (शब्द प्रमाण)– ईश्वर ने सभी प्राणियों के हित के लिए जो वेद का उपदेश दिया है और संसार में जो सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, पक्षपातरहित, सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखने वाले विद्वान् सबके कल्याण के लिए जो बात कहते व लिखते हैं वह शब्दप्रमाण है। योगाभ्यास करते समय शब्दप्रमाण भी बाधक होता है। जब साधक 'ओ३म्' शब्द का जप करता है यदि उसी समय वेद का कोई दूसरा मंत्र सुनाई देता हैं और उसका अर्थ मन में आता है तो योगाभ्यास में बाध ा पड़ती है अथवा किसी पढ़े शब्द को स्मरण करके उस शब्द के अर्थ को मन में उभार लिया जाता है तो वृत्ति–निरोध नहीं हो पाता है, परन्तु व्यवहार काल में शब्द प्रमाण से अनेक प्रयोजनों की सिद्धि होती है। अनेक विद्याएँ शब्दप्रमाण के द्वारा जानी जाती हैं। योगी, जिज्ञासुओं को योग का स्वरूप भी शब्द के द्वारा बतलाता है और वे शब्द से सुनी

हुई बातों को मनन करके समाधि तक पहुँचते हैं। पर योगाभ्यास करते समय जप के वाक्य को छोड़कर अन्य शब्दों को रोक दिया जाता है। इस प्रसंग में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब 'आ३म्' शब्द का जप करते हैं अथवा गायत्री मन्त्र का जप करते हैं तो वह भी शब्द प्रमाण की कोटि में आता है, वह भी बाधक होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी एक शब्द या एक मन्त्र को ध्यान के लिए निर्धारित करके जब अधिकारपूर्वक जप किया जाता है तो वह योग में साधक होता है, बाधक नहीं। जो शब्द या मन्त्र अनधिकृत रूप से साधक की भूल से या विवशता से साधक के समक्ष उपस्थित होकर अपने अर्थ से साधक के मन को मुख्य विषय से हटा देता है वह शब्दप्रमाण योग में बाधक होता है। जैसे कि योगाभ्यासी ने 'ओ३म्' शब्द को लेकर ध्यान प्रारम्भ किया और 'ओ३म्' शब्द का अर्थ सर्वरक्षक लिया। इस अवस्था में 'ओ३म्' शब्द व उसका अर्थ 'सर्वरक्षक' योग की सिद्धि में साधक है, किन्तु अन्य कोई शब्द व उसका अर्थ मध्य में आ जाये तो बाधक होता है।

2. विर्ययवृत्ति का स्वरूप

दूसरी विपर्ययवृत्ति है। जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप विपरीत जाना जाता है वह 'विपर्ययवृत्ति' कहाती है। जैसे कि रस्सी को साँप और साँप को रस्सी जाना जाता है, इसी प्रकार से किसी वस्तु का जो विपरीत ज्ञान है अर्थात् अन्धकार आदि कारणों से अथवा किसी अन्य दोष से वस्तु के स्वरूप से उलटा स्वरूप जाना जाता है वह 'विपर्ययवृत्ति' है। संक्षेप से विपर्यवृत्ति को यूँ कह सकते हैं कि अनित्य वस्तुओं को नित्य और नित्य वस्तुओं को अनित्य जानना, अशुद्ध वस्तुओं को शुद्ध तथा शुद्ध वस्तुओं को अशुद्ध जानना, सुख को दुःख तथा दुःख को सुख जानना, जड़ को चेतन और चेतन को जड़ जानना विपर्ययवृत्ति का स्वरूप है। ध्यान के समय में साधक जड़ मन को चेतन मानता है और यह कहता है कि मेरा मन स्वयं विषयों की ओर चला गया, यह विपर्ययवृत्ति है। इस जड़ शरीर को भी विपरीत ज्ञान के कारण मनुष्य चेतन समझाता

है। जब तक विपर्ययवृत्ति अर्थात् मिथ्याज्ञान को हटाया नहीं जाता तब तक योग की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः विपर्यय वृत्ति का रोकना अनिवार्य है।

3. विकल्पवृत्ति का स्वरूप

जिसमें शब्द तो हो और उस शब्द का अर्थ=वस्तु न हो वह 'विकल्पवृत्ति' कहाती है। जैसे कि बन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल। यहां पर बन्ध्या का पुत्र शब्द तो है परन्तु बन्ध्या का पुत्र शरीरधारी अर्थ नहीं है। इसी प्रकार से आकाश का फूल शब्द तो है, परन्तु आकाश का फूल अर्थ अर्थात् फूल-वस्तु नहीं है। जहाँ पर शब्द के द्वारा किसी वस्तु को तो कहा गया है, पर जिस वस्तु को कहा गया है वह उस रूप में कहीं भी नहीं मिलती जैसे आकाश का फूल कहा गया है, पर आकाश का फूल कहीं भी नहीं मिलता। यह विकल्पवृत्ति किस प्रकार से ध्यान में बाधक होती है, इस बात को समझना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति एकान्त शान्त वातावरण में योगाभ्यास कर रहा हो और वहीं पर आकर कोई दूसरा व्यक्ति यह कहे कि यहाँ पर जो व्यक्ति आते हैं अथवा बैठते हैं, उन व्यक्तियों को भूत भयंकर दुःख देता है अथवा मार डालता है। इस बात को सुनकर साधक भयभीत हो जाता है और उसकी ध्यान की स्थिति भंग होजाती है। इस प्रकार से विकल्पवृत्ति को योग में बाधक माना जाता है, परन्तु व्यवहार काल में विकल्पवृत्ति से भी कार्य किया जाता है। जैसे कि इस शरीर में जो चेतनता है वह जीव की है, इस शरीर की नहीं। यहाँ पर यह कहा गया है कि इस शरीर में जो चेतनता है वह जीव की है। जीव चेतन-स्वरूप है, जीव और चेतनता अलग-अलग नहीं हैं, फिर भी जीव की चेतनता कही जाती है। यह समझाने के लिए बोला जाता है कि शरीर चेतन नहीं किन्तु जीव चेतन है।

4. निद्रावृत्ति का स्वरूप

तीन अवस्थाएँ हैं एक जाग्रत्, दूसरी स्वप्न और तीसरी सुषुप्ति।

जब मनुष्य कुछ सोता और कुछ जागता है तब स्वप्नावस्था होती है, जब स्वप्न देखना बंद कर देता है तो गाढ़निद्रा प्रारंभ हो जाती है। इस गाढ़निद्रा में भी मनुष्य सुख और दुःख की अनुभूति करता रहता है, क्योंकि जागने पर व्यक्ति कहता है कि मैं आज सुखपूर्वक सोया अथवा दुःखपूर्वक सोया। यह निद्रा भी वृत्ति है। इसको भी समाधि काल में रोकना पड़ता है। यदि योगाभ्यास करते समय व्यक्ति को निद्रा आती है तो समाधि की प्राप्ति नहीं होती और समाधि सिद्ध साधक को भी यदि योगाभ्यास काल में निद्रा आती है तो उसकी समाधि को भंग कर देती है। क्योंकि निद्रा तमोगुणप्रधान है। इसलिए योगाभ्यास काल में निद्रा का रोकना आवश्यक है। मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए निद्रा आवश्यक है, बिना निद्रा के व्यक्ति रोगी हो जाता है, इसलिए जितनी निद्रा की मनुष्य को आवश्यकता हो उतनी निद्रा अवश्य ही लेनी चाहिए। उचित समय पर सोना और उचित समय पर उठना योग में साधक है, बाधक नहीं।

5 स्मृतिवृत्ति का स्वरूप

शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि जिन–जिन विषयों का व्यक्ति अनुभव करता है उस अनुभव से संस्कार बनते हैं और वे संस्कार स्मृति को उत्पन्न करते हैं। जैसे कि किसी व्यक्ति ने बीस वर्ष पर्यन्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयों का तल्लीनता से भोग किया। इन विषयों के भोगने से संस्कार उत्पन्न हो गये। वे संस्कार समाधिकाल में रूप आदि विषयों से सम्बद्ध स्मृति को उत्पन्न करते हैं अथवा जीव उन संस्कारों को उभार कर स्मृति को उत्पन्न कर लेता है। स्मृति के उभरने से समाधि भंग हो जाती है। इसी प्रकार से मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा अनेक विषयों के ज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान का अनुभव करता है और उस अनुभव से संस्कार बनते हैं और उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। इस प्रसंग में एक बात का परिज्ञान करना आवश्यक है। अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार स्मृति को उत्पन्न करते हैं, यह वास्तविकता है, परन्तु जीवात्मा की सहायता के बिना संस्कार स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकते। जब साधक यह समझ लेता है कि संस्कारों को जगाने वाला मैं हूँ, स्वयं

संस्कार स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकते, तो स्मृति को रोकने में सुविधा हो जाती है। यह स्मृतिवृत्ति बहुत विस्तृत है। प्रमाणादि सभी वृत्तियों के अनुभव से स्मृतिवृत्ति उत्पन्न होती है और स्मृति की भी स्मृति उत्पन्न होती है।

साधक को इन पाँच वृत्तियों का स्वरूप ठीक प्रकार से जान लेना चाहिए। जो साधक इनके स्वरूप को ठीक प्रकार से जानकर योगाभ्यास करता है, उसको अवश्य ही सफलता मिलती है। समाधि काल में जब साधक के द्वारा वृत्ति उभार ली जाती है तो तत्काल साधक का यह कर्त्तव्य बनता है कि सावधान होकर उचित उपाय से उस वृत्ति को रोक देवे। इसी प्रकार से सभी वृत्तियों के विषय में प्रयोग करना चाहिए।

वृत्तियों को रोकने के उपाय

वृत्तियों को रोकने के उपाय विवेक, वैराग्य और अभ्यास हैं। **प्रथम उपाय विवेक** का अभिप्राय है वास्तविक ज्ञान। किसी विषय का केवल शाब्दिकज्ञान विवेक नहीं कहलाता। जैसे कि संसार में लाखों लोग यह कहते हैं कि यह मनुष्य का शरीर नाशवान् है, परन्तु परीक्षण करके देखा जाए तो उन लाखों लोगों में ऐसे एक अथवा दो व्यक्तियों का भी मिलना कठिन है जो कि वास्तव में इस मनुष्य शरीर को नाशवान् मानते हों। इसी प्रकार से लाखों लोग यह कहते हैं कि सत्य बोलना लाभप्रद है और असत्य बोलना हानिकारक है। यदि परीक्षण करके देखा जाए तो उन लाखों लोगों में एक या दो व्यक्तियों का मिलना भी कठिन है, जो कि सदा सत्य ही बोलते हों। इसी प्रकार से अनेक लोग यह कहते हैं कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है, परन्तु उन अनेक मनुष्यों में कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो कि ईश्वर को आनन्दस्वरूप मानकर ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयास शील हो। इसी प्रकार से सर्वत्र समझना चाहिए कि केवल शाब्दिक ज्ञान विवेक नहीं है।

जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है वह विवेक-ज्ञान कहलाता है। एक छोटा बालक बार-बार अग्नि में हाथ

डालने का प्रयास करता है और माता-पिता अग्नि में हाथ डालने से बार-बार रोकते हैं परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह नहीं मानता। यदि वह बालक एक बार भी अग्नि में हाथ डाल देवे और उसका हाथ कुछ जल जाए तो उसके पश्चात् वह बालक अग्नि में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसे अच्छी प्रकार ज्ञान हो गया है कि अग्नि जला देती है और उससे दुःख होता है। इसी प्रकार से विवेक के विषय में समझना चाहिए। जब तक किसी व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं है कि चित्त क्या है, चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं, मेरा स्वरूप क्या है और जिसको योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उस ईश्वर का स्वरूप क्या है? तब तक व्यक्ति वृत्तियों का निरोध नहीं कर सकता। इसलिए चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिए मुख्य-मुख्य वस्तुओं का व्यवहारिक ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए।

विवेक के मुख्य विषय तीन हैं

विवेक के तीन मुख्य विषय हैं-एक ईश्वर, दूसरा जीव और तीसरी प्रकृति। जब योगाभ्यासी इन तीन पदार्थों के विषय में अच्छी प्रकार से जान लेता है तो चित्त की वृत्तियों के निरोध करने में सफल हो जाता है।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के विषय में योगाभ्यासी का ज्ञान संशयरहित होना चाहिए। जब तक व्यक्ति के मन में संशय बना रहेगा तब तक ईश्वर को पाने की तीव्र इच्छा नहीं हो सकती। इसलिए ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह जानना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। ईश्वर के विषय में मनुष्यों में अनेक मतभेद हैं। ईश्वर है या नहीं, और है तो किस प्रकार का है, इत्यादि संशयों का निवारण करना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि ईश्वर एक वस्तु है, ईश्वर को वस्तु, द्रव्य व पदार्थ कहने में कोई भी दोष नहीं आता। जैसे भूमि, जल, अग्नि आदि वस्तु (द्रव्य-पदार्थ) है, वैसे ही ईश्वर भी वस्तु-द्रव्य-पदार्थ है। वस्तु-द्रव्य-पदार्थ इनकी व्यापक परिभाषा यह है कि जिसमें गुण रहते

हैं उसी को वस्तु, द्रव्य अथवा पदार्थ कहते हैं। भूमि में गन्ध आदि गुण रहते हैं उसी को वस्तु, द्रव्य अथवा पदार्थ कहते हैं। भूमि में गन्ध आदि गुण रहते हैं, जल में रसादि गुण रहते हैं। इसलिए न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों की भाषा में इनको वस्तु, द्रव्य अथवा पदार्थ कहते हैं। इसी प्रकार ईश्वर में ज्ञान, आनन्द, बलादि अनेक गुण रहते हैं, अतः ईश्वर एक वस्तु, द्रव्य या पदार्थ है। वस्तु, द्रव्य और पदार्थ ये पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे भूमि, जलादि पदार्थ हमारे उपयोग में आते हैं, वैसे ही ईश्वर भी हमारे उपयोग में आता है। बहुत-से लोग तो ईश्वर को जानते ही नहीं, इसलिए ईश्वर का उपयोग नहीं कर सकते। यदि सभी मनुष्य ईश्वर को ठीक प्रकार से जान लें और उसका उचित उपयोग करें तो विश्व का कल्याण हो जाए। ईश्वर को जाने, माने और व्यवहार में लाये बिना दुःखों की परिसमाप्ति और नित्य सुख की प्राप्ति कभी भी संभव नहीं है। ईश्वर एक ही है, अनेक नहीं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं और ईश्वर सभी प्राणियों का पिता है, ऐसा समझना चाहिए।

ईश्वर के विशेष लक्षण

ईश्वर सत् है अर्थात् उसका कभी भी विनाश नहीं होता और वह एक सत्तात्मक पदार्थ है। चित्त है-चेतन (ज्ञानी) है। आनन्द है-सुखस्वरूप है, नित्य-सुख से युक्त है। निराकार है-आकृति से रहित है। सर्वशक्तिमान है अर्थात् सृष्टि की उत्पति, स्थिति, प्रलय करने में और जीवों को कर्मफल देने में किसी की सहायता नहीं लेता। न्यायकारी है-जो जीव जितना अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका उतना ही अच्छा या बुरा फल देता है, न्यून अथवा अधिक नहीं देता। दयालु है- उत्तम-उत्तम पदार्थ देने के स्वभाववाला है और बुरे कर्म करनेवालों को उचित दण्ड देकर उनको बुराई से बचाकर उन पर दया करता है। अजन्मा है-कभी भी जन्म नहीं लेता। अनन्त है-सीमा रहित है। निर्विकार है-ईश्वर में कभी भी किसी प्रकार का विकार=परिवर्तन, घटना-बढ़ना-गलना और कामी, क्रोधी आदि होना नहीं होता। अनादि है- उत्पति रहित है। अनुपम है-ईश्वर के तुल्य

अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। सर्वाधार है–सभी पदार्थों का आधार–आश्रय है। सर्वेश्वर है–समस्त ऐश्वर्य अर्थात् अनन्त ज्ञान, आनन्द, बल ईश्वर में है। सर्वव्यापक है–सभी जड़ और चेतन, कारण और कार्य पदार्थों में विद्यमान है। सर्वान्तर्यामी है–सभी पदार्थों के अन्दर रहकर उनको नियन्त्रण में रखने वाला है। अजर है– कभी बूढ़ा नहीं होता। अमर है– कभी मरता नहीं है, नष्ट नहीं होता है। अभय है– कभी भी किसी से डरता नहीं है। नित्य है– सदा विद्यमान रहता है। पवित्र है– अज्ञान, अधर्म आदि दोषों से रहित है। सृष्टि कर्त्ता है– सृष्टि का रचयिता है, ये ईश्वर के लक्षण हैं। जो व्यक्ति ईश्वर को ऐसा ही जानता, मानता और अपने व्यवहार में भी ईश्वर की आज्ञा का पालन करता तथा लौकिक पदार्थों की उपासना को छोड़कर ईश्वर की उपासना करता है, वह मनुष्य विवेकी है अन्य नहीं।

जीव का स्वरूप

जीव के विषय में संशयरहित ज्ञान की अत्यंत आवश्यकता है। जीव के विषय में ऐसा जानना चाहिए कि जीव भी एक वस्तु है, एक द्रव्य है। जैसे भूमि, जलादि द्रव्य हैं वैसे ही जीव भी एक द्रव्य है। जीव के लक्षण इस प्रकार से हैं–जीव सत् है इसका कभी भी विनाश नहीं होता, यह एक सत्तात्मक पदार्थ है। चित् है– चेतन है अर्थात् ज्ञानवान् वस्तु है। अनादि है–इसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती। इच्छा से युक्त है, जिस वस्तु को हितकारी समझता है उसको लेने की इच्छा करता है। एक देशी है–एक स्थान पर रहता है, ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक नहीं है। अल्पज्ञ है–थोड़ा जानता है, सर्वज्ञ नहीं है। कर्म करने में स्वतन्त्र है अर्थात् अच्छे–बुरे कर्म करने में स्वतन्त्र है और उन कर्मों के फल भोगने में ईश्वर के आधीन है। जब जीवात्मा अपने स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेता है तो मन और इन्द्रियों को अपने अधिकार में कर लेता है। जिस प्रकार से एक विमान चालक अपने स्वरूप (= शक्ति–सामर्थ्य) को ठीक प्रकार से जानता है और विमान के स्वरूप को भी ठीक प्रकार से जानता है तो विमान को अपने नियन्त्रण में रखकर अपने लक्ष्य पर

पहुँच जाता है। इससे भिन्न स्थिति में विमान चालक अपने अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। यही बात योग के विषय में भी जाननी चाहिए कि जो व्यक्ति अपने शरीर, इन्द्रिय, मनादि साधनों को ठीक प्रकार से जानता है ओर अपने स्वरूप को भी ठीक प्रकार से जानता है वही अपने लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति को कर पाता है अन्य नहीं। इसी बात को समझाने के लिए उपनिषद् में कहा है कि हे मनुष्य! तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथि जान, मन को लगाम जान और इन्द्रियों को घोड़े, फिर इनका प्रयोग कर। जो साधक आत्मा के स्वरूप को और शरीरादि साधनों को अच्छी प्रकार से नहीं जानते वे यही कहते हैं कि मेरा मन नहीं मानता, मन मेरे अधिकार में नहीं रहता, मेरी इच्छा के बिना स्वयं विषयों की ओर चला जाता है। इस अवस्था में योगाभ्यासी योगमार्ग में सफल नहीं हो पाता। जब व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को ठीक प्रकार से जान लेता है तो चित्त की वृत्तियों के निरोध करने में निश्चितरूपेण सफलता प्राप्त कर लेता है।

प्रकृति का स्वरूप

जैसे ईश्वर का स्वरूप और जीव का स्वरूप जानना आवश्यक है, वैसे ही प्रकृति का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति का स्वरूप इस प्रकार से है–सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है। सत्त्व, रज, तम ये तीन प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य हैं। इनमें सत्त्व प्रकाशशील है, रज गतिशील है और तम स्थितिशील है। यह प्रकृति समस्त संसार को बनाने की सामग्री अथवा उपादान कारण है। जब यह संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है तब सत्त्व, रज और तम साम्यावस्था में रहते हैं, अर्थात् उस समय इनकी विषमावस्था समाप्त हो जाती है। इन तीनों की इस साम्यावस्था को ही सांख्यदर्शन में प्रकृति कहते हैं। आजकल के भौतिक वैज्ञानिक इसको किसी अन्य नाम से भी बोल सकते हैं। केवल नाममात्र में भेद हो सकता है, वस्तु में भेद नहीं हो सकता। जैसे कि भारत के लोग एक तरल द्रव्य को जल कहते हैं जो प्यास को शान्त करता है, इसी जल द्रव्य को दूसरे देश वाले किसी

अन्य शब्द से व्यवहार में लाते हैं। यह द्रव्य के नाम में भेद है, स्वरूप में भेद नहीं है। इसी प्रकार से सांख्यकार ने जिन तीन की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है, अन्य लोग इसको किसी अन्य नाम से भी बोल सकते हैं। संसार में भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखने से भी यह पता चलता है कि किसी पदार्थ में सत्त्व की प्रधानता है, किसी में रज की प्रधानता है, किसी में तम की प्रधानता है। भोजनादि खाने से और दूध आदि पीने से भी व्यक्ति पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थ सत्त्व, रज, तम से बने हैं, अर्थात् सम्पूर्ण संसार का उपादानकारण प्रकृति है। जैसे ईश्वर अनादि और विनाशरहित है वैसे ही प्रकृति भी अनादि अर्थात् उत्पत्ति रहित और विनाशरहित है। प्रकृति की दो अवस्थाएँ हैं, एक साम्यावस्था और दूसरी विषमावस्था। साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' और विषमावस्था का नाम 'विकृति' है। संसार में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब प्रकृति की विषमावस्था हैं। प्रकृति की साम्यावस्था और विषमावस्था, इन दोनों अवस्थाओं में जिस भी स्वरूप में प्रकृति रहती है, उसका जानना आवश्यक है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रकृति और विकृति के प्रत्येक भाग को प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाना जाए, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण से जानने पर भी व्यक्ति के कार्य की सिद्धि हो जाती है।

प्रकृति को लेकर ईश्वर संसार की रचना करता है

सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना इस प्रकार से हुई है- सत्त्व, रज, तम इन तीनों को लेकर सर्वप्रथम ईश्वर ने महान् अर्थात् महत्तत्व को बनाया। महत्तत्व से अहंकार को उत्पन्न किया। अहंकार से पाँच तन्मात्राओं, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और मन इन सोलह कार्यों को उत्पन्न किया। पाँच तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूतों को उत्पन्न किया और पाँच स्थूल भूतों से मनुष्य, पशु आदि के शरीरों को और वनस्पति आदि पदार्थों को उत्पन्न किया। प्रत्येक व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय आदि साधनों से अपने समस्त लौकिक और आध्यात्मिक कार्यों को सिद्ध

करता है। जिन साधनों से व्यक्ति अपने कार्यों को करता है, उन साधनों का परिज्ञान करना आवश्यक है। साधनों के वास्तविक ज्ञान के बिना न तो लौकिक कार्य हो सकते हैं और न योग की सिद्धि हो सकती है। इसलिए प्रकृति और विकृति इन दोनों को ठीक प्रकार से जानकर ही योगाभ्यासी चित्त की वृत्तियों का निरोध कर सकता है, अन्यथा नहीं।

चित्तवृत्ति निरोध का दूसरा उपाय 'वैराग्य' है

विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है। बिना विवेक के वैराग्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। साधक का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वैराग्य के स्वरूप को समझे और उसको प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयास करे। अनेक पदार्थों को व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष से जानता हैं जैसे पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पाँच विषयों का अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष रूप से भोग करता है, अनेक विषयों का प्रत्यक्ष रूप से तो अनुभव नहीं करता किन्तु उपदेशरूप में सुनता अथवा गन्थों में पढ़ता है जैसे कि जो व्यक्ति स्वर्ग की इच्छा करता है, वह यज्ञ करे। यज्ञ करने से जो स्वर्ग–लौकिक सुख विशेष मिलता है, वह आज तक उस व्यक्ति ने प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा, केवल सुना है। तो इन प्रत्यक्ष रूप से जाने व भोगे हुए और उपदेश द्वारा सुने व ग्रंथों में पढ़े हुए विषयों की तृष्णा से रहित होना, साथ ही मन, इन्द्रियाँ मेरे वश में हैं यह अनुभूति करना वैराग्य है। विवेक के द्वारा जब व्यक्ति यह जान लेता है कि संसार का प्रत्येक सुख क्षणिक है और उस सुख में योगदर्शन के अनुसार परिणाम–दुःख, ताप–दुःख, संस्कार–दुःख और गुणवृत्ति विरोध–दुःख यह चार प्रकार का दुःख मिला हुआ है, तो उससे विरक्त हो जाता है। इस वैराग्य की प्राप्ति होने पर सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। इस वैराग्य को 'अपर–वैराग्य' कहा जाता है। इस वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नहीं होती। ईश्वर साक्षात्कार के लिए असम्प्रज्ञात समाधि की आवश्यकता होती है और असम्प्रज्ञात समाधि का साधन 'पर–वैराग्य' है। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होने से 'पर–वैराग्य' की सिद्धि होती है। इस वैराग्य की प्राप्ति होने पर सम्प्रज्ञात समाधि के

ज्ञान और सुख की उपलब्धि से भी वैराग्य हो जाता है। इसलिए अपर-वैराग्य से सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि करनी चाहिए और पर-वैराग्य से असम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि करनी चाहिए।

चित्तवृत्ति निरोध का तीसरा उपाय 'अभ्यास' है

केवल विवेक और वैराग्य से योग की सिद्धि नहीं होती। इसलिए अभ्यास का ग्रहण किया जाता है। चित्त की एकाग्रता को बनाये रखने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यास' कहते हैं। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि चित्त की एकाग्रता के सम्पादन के लिए योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करना 'अभ्यास' है। किसी भी कठिन कार्य की सिद्धि करने के लिए जो बार-बार परिश्रम किया जाता है वही 'अभ्यास' है। बार-बार प्रयत्न करने से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। योग के लिए भी बार-बार अभ्यास करने से योग सरल हो जाता है। विवेक और वैराग्य की प्राप्ति होने पर यदि उचित रूप से अभ्यास न किया जाए तो जन्म-जन्मान्तरों की काम, क्रोध आदि की वासनाएँ विवेक और वैराग्य को समाप्त कर देती हैं, अतः विवेक और वैराग्य को स्थिर बनाने के लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता रहती है।

अभ्यास का प्रयोग

अभ्यास का स्वरूप समझने के पश्चात् अभ्यास का प्रयोग कैसे करना चाहिए, इसका परिज्ञान भी आवश्यक है। जन्म-जन्मान्तर की अशुभ वासनाएँ थोड़े अभ्यास से नहीं रूक सकतीं, उन वासनाओं को रोकने के लिए और उनको निर्बल बनाने के लिए लम्बे काल पर्यन्त अभ्यास करना चाहिए। जब किसी व्यक्ति का अशुभकर्म करते-करते लम्बा अभ्यास हो जाता है तो उस कर्म को करने से जो संस्कार बनते हैं वे अत्यन्त दृढ़ होते हैं। संस्कार जितने दृढ़ होते हैं, उनको रोकने में उतना ही अधिक परिश्रम करना पड़ता है और लम्बे काल तक करना पड़ता है। जैसे कि थोड़े मलिन वस्त्र को शुद्ध करने में थोड़ा परिश्रम करना पड़ता है और अधिक मलिन वस्त्र को शुद्ध करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता

है। जीवात्मा अनादि है, वह अनेक जन्मों से विविध इन्द्रियों के विषयों को भोगता चला आ रहा है। उन अनेक जन्मों में भोगे हुए विषयों के संस्कार अत्यंत दृढ़ हैं। अतः दीर्घ काल तक अभ्यास करना आवश्यक है, थोड़े काल तक किया हुआ अभ्यास उन अशुभ संस्कारों को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता।

अभ्यास के विषय में **दूसरी बात-** यह है कि अभ्यास को सतत् लगातार किया जाये। मध्य-मध्य में छोड़ने से अशुभ वासनाएँ जैसी की तैसी बनी रहती हैं। जब व्यक्ति कुछ दिन अभ्यास करता है और कुछ दिन छोड़ देता है तो उससे विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि मध्य में अभ्यास को छोड़ देने से बुरे संस्कारों में पुनः बल आ जाता है जैसा कि अभ्यास करने से पूर्व था। जैसे कोई व्यक्ति अपने खेत के हानिकारक वृक्षों को सुखाने के लिए उनमें पानी देना बंद कर देता है और बीच-बीच में पुनः पानी देता है, तो वे हानिकारक वृक्ष फिर हरे-भरे हो जाते हैं। इसी प्रकार से बुरे संस्कारों को भी बीच-बीच में उभरने का अवकाश मिलने से वे प्रबल हो जाते हैं और अच्छे संस्कार निर्बल हो जाते हैं। इसलिए निरन्तर अभ्यास करने से ही विशेष सफलता मिलती है।

तीसरी बात- अभ्यास में यह है कि अभ्यास **ज्ञानपूर्वक** करना चाहिए। बिना ज्ञान के अभ्यास करने में सफलता नहीं मिलती। पूर्व बतलाया जा चुका है कि प्रयत्न का नाम अभ्यास है। कोई व्यक्ति प्रयत्न तो बहुत करता है परन्तु ज्ञानपूर्वक नहीं करता, तो वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचता, जैसे कि कोई व्यक्ति दिल्ली से कलकत्ता जाना चाहता है और कलकत्ता की टिकट भी ले लेता है, परन्तु अज्ञानता के कारण अमृतसर जानेवाली गाड़ी में बैठ जाता है तो कलकत्ता नहीं पहुँचता, अमृतसर पहुँच जाता है। इसी प्रकार से योग में भी अज्ञानतापूर्वक किये अभ्यास का परिणाम गलत होता है।

चौथी बात- अभ्यास में यह है कि **तपपूर्वक** अभ्यास होना चाहिए, बिना तप के अभ्यास मनुष्य को लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता।

सुख-दुःख, हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि को सहन करना 'तप' है। जब व्यक्ति कोई कार्य करता है तो उसमें सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि होते ही रहते हैं। जो व्यक्ति हानि-लाभ, मान-अपमान आदि को सहता हुआ अभ्यास करता रहता है, वह अपने लक्ष्य को पूरा कर लेता है और जो तपस्वी नहीं है वह विफल हो जाता है। एक व्यक्ति पूर्णसत्यवादी, विद्वान्, परोपकारी, बलवान् बनना चाहता है परन्तु इन गुणों को प्राप्त करने के लिए जो महान् परिश्रम करना पड़ता है, उस परिश्रम से होने वाले कष्टों से डरता है। ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति विशेष गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार से योगाभ्यास करनेवाला व्यक्ति यदि हानि-लाभ, दुःख-सुख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि से डरता है तो योग में प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए अभ्यास में तप की महती आवश्यक है।

पाँचवी बात- अभ्यास को सफल बनाने में **ब्रह्मचर्य का पालन** करना आवश्यक है। जब तक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं करता, तब तक किसी भी महान् कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता। एक व्यक्ति यह जानता है कि अमुक भोजन मेरे शरीर के लिए हानिकारक है, परन्तु रसना इन्द्रिय उसके वश में नहीं है, हानिकारक जानते हुए भी उस भोजन को खा लेता है। रोगी होने पर व्यक्ति के सभी कार्य अवरूद्ध हो जाते हैं। ध्यानकाल में योगाभ्यासी को एक गाना सुनाई देता है और गाना सुनने से ही ध्यान की हानि होती है, परन्तु ध्यान करनेवाला व्यक्ति अपनी श्रोतेन्द्रिय को वश में नहीं कर सकता, तो ध्यान की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार से प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में जानना चाहिए। जो योगाभ्यासी अपने मन और सभी इन्द्रियों को वश में रखता है, यथाशक्ति वीर्य की रक्षा करता है, वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

छठी बात- अभ्यास को **श्रद्धापूर्वक** करना चाहिए। एक व्यक्ति किसी से प्रभावित होकर योगाभ्यास तो करता है, परन्तु योगाभ्यास में उसकी रूचि-श्रद्धा नहीं है। बिना श्रद्धा के अभ्यास करने से साधक

के संस्कार अच्छे नहीं बनते, अपने उद्देश्य पर पहुँचने में वह पूर्ण रूपेण पुरूषार्थ नहीं करता तथा लक्ष्य के प्रति उपेक्षा उत्पन्न हो जाती है। फलतः सफल नहीं हो पाता है।

तो अभ्यास का प्रयोग दीर्घकाल, निरन्तर, विद्यापूर्वक, तपपूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक और श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। इस प्रकार से किया गया अभ्यास व्यक्ति की स्थिति को अत्यन्त दृढ़ बना देता है। जिससे कि काम, क्रोध, लोभादि योगाभ्यासी को योगमार्ग से विचलित नहीं कर सकते। जिस व्यक्ति का अभ्यास दृढ़ नहीं है, उस व्यक्ति को जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ योगमार्ग से हटा देती हैं।

इस प्रसंग से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह समाधि की सिद्धि कितने समय में होती है? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति साधनों का उपयोग जितने ऊँचे स्तर पर करेगा, उतना ही शीघ्र वह समाधि को प्राप्त कर लेगा। समाधि की प्राप्ति में काल का नियम नहीं है। साधक की योग्यता और साधनों की स्थिति के आधार पर समाधि शीघ्र अथवा विलम्ब से प्राप्त होती है। जो व्यक्ति पूर्व जन्म में योगाभ्यास करके उत्तम संस्कार बनाके आया है और इस जन्म में किसी ब्रह्मवेत्ता गुरु से योग विद्या का प्रशिक्षण लेता है, सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में उद्यत रहता है और विवेक, वैराग्य, अभ्यास जिसके ऊँचे हैं, वह शीघ्र ही समाधि को प्राप्त कर लेता है, अतः समाधि प्राप्ति में काल का कोई नियम नहीं है। इस विषय में महर्षि कपिलाचार्य ने स्पष्ट किया है **'न काल नियमो वामदेववत्'** (सांख्य 4/20) समाधि की प्राप्ति में काल का नियम नहीं है, जैसे कि पूर्व जन्म की योग्यता के आधार पर वामदेव आचार्य ने शीघ्र ही समाधि प्राप्त की थी। जो साधक अतिशीघ्र समाधि प्राप्त करना चाहते हैं, वे ईश्वर प्रणिधान करें।

ईश्वर-प्रणिधान की परिभाषा

ईश्वर की विशेष भक्ति = उपासना, ईश्वर के प्रति अत्यंत प्रेम, आत्मसमर्पण, उसकी आज्ञा का पालन, समस्त क्रियाओं को उसके अर्पण

करना और उनका कोई लौकिक फल न चाहना ईश्वर प्रणिधान है। यह बात तो सत्य ही है कि ईश्वर प्रणिधान से अतिशीघ्र समाधि की उपलब्धि होती है, परन्तु ईश्वर प्रणिधान की सिद्धि ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना नहीं होती, इसी कारण से योगदर्शनकार ने ईश्वरप्रणिधान के प्रकरण में ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। ईश्वर के स्वरूप को जानना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जब मनुष्य ईश्वर को ठीक प्रकार से जानकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता है तो ईश्वर अपने नियमानुसार साधक को सहायता देता है। ईश्वर की सहायता मिलने से समाधि की प्राप्ति सरल हो जाती है, तथा समाधि प्राप्ति में होने वाली अनेक बाधाएँ दूर हो जाती हैं, अतः ईश्वर के स्वरूप को जानकर शीघ्र समाधि लाभ करना चाहिए।

योगदर्शन के अनुसार ईश्वर का स्वरूप

जो क्लेशों अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से रहित है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में जिसको क्लेश नहीं छूते, जो कभी अशुभकर्म नहीं करता केवल शुभकर्म ही करते है और अपने किये हुए कर्मों का कभी फल नहीं भोगता। कर्मफल भोगने से जो वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनसे रहित है। ऐसा पुरूषविशेष ईश्वर है। जिसके अनन्त ज्ञान से अधिक किसी अन्य का ज्ञान नहीं है और न ईश्वर के ज्ञान के तुल्य किसी अन्य व्यक्ति का ज्ञान है। जीव में जो ज्ञान है वह अल्प है। उस ज्ञान से जीव न व्यवहार को सिद्ध कर सकता है और न मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर जीव को अपना ज्ञान देता है, तब वह अपने लौकिक कार्य और मोक्ष की सिद्धि करता है। इसलिए जिसमें अनन्त ज्ञान है, वह ईश्वर है। जो गुरूओं का भी गुरू है, वह ईश्वर है। जितने भी विद्या पढ़ानेवाले गुरू वर्त्तमान काल में हैं, भूत काल में थे और आगे भविष्य में होंगे, उन सबका जो गुरु है, वह ईश्वर है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया, उसके पश्चात् ही मनुष्य विद्वान् बने और उन्होंने फिर दूसरे मनुष्यों को विद्या पढ़ाई। आजकल भी जो विद्या पढ़ाई जाती है, वह

चाहे भौतिक विद्या हो और चाहे अध्यात्मिक विद्या हो, उस सम्पूर्ण विद्या का देनेवाला ईश्वर है, अन्य कोई भी नहीं है। जब यह संसार नहीं बना था, उस समय सभी विद्याएँ ईश्वर में विद्यमान थी। यदि ईश्वर में सभी विद्याएँ न होतीं, तो आज कहाँ से आती। इसलिए ईश्वर सब गुरूओं का भी गुरु है। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान करके पुनः उसके नाम का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ईश्वर का स्वरूप और ईश्वर का नाम इन दोनों का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। ईश्वर वाच्य है, 'आ३म्' शब्द ईश्वर का वाचक है। जैसे जल एक तरल पदार्थ है, और 'जल' एक शब्द है जिसको व्यक्ति मुख से बोलता है। जल पदार्थ का और जल शब्द का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। इसी प्रकार से संसार में एक 'वस्तु' और एक 'वस्तु का नाम' है। नाम और नामी का परस्पर सम्बन्ध है। जैसे नाम और नामी के सम्बन्ध से संसार के व्यवहार चलते हैं, वैसे ही ध्यानकाल में ईश्वर और ईश्वर के नाम से ध्यान में सफलता मिलती है। जो योगाभ्यासी ईश्वर को और ईश्वर के नाम को ठीक प्रकार से जानकर ध्यान करते हैं, वे सरलता से ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए वाच्य और वाचक के सम्बन्ध को जानकर ही ध्यान करना चाहिए। साध ाक ईश्वर तक पहुँचने के लिए ओ३म् शब्द का जप करे अर्थात् आ३म् शब्द को बार-बार बोले और ओ३म् शब्द के अर्थ का विचार करे। बिना अर्थ के जप करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। ध्यान करते समय ओ३म् शब्द का जप और ओ३म् शब्द का अर्थ तथा ईश्वर समर्पण, ये तीन कार्य करने चाहिएँ। जब साधक विधिपूर्वक अर्थसहित ईश्वर समर्पित होकर ध्यान करता है तो ईश्वर उसको पात्र समझकर सहायता देता है और अपने स्वरूप को दिखा देता है। विधिपूर्वक ओ३म् का जप करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है और जीव को अपने स्वरूप का भी परिज्ञान होता है तथा योग के जो अन्तराय हैं-शत्रु हैं अथवा बाधक हैं, उनका भी निवारण होता है। इस प्रकार ईश्वर प्रणिध ाान से शीघ्र ही समाधि की प्राप्ति होती है और योग में जो व्याधि आदि बाधक हैं, उनका नाश होता है।

योग के बाधकों का स्वरूप

योग जिज्ञासु को जिस प्रकार से योग के साधनों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार से योग के बाधकों का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। संसार में जब कोई बुद्धिमान् व्यक्ति कोई उत्तम कार्य करना चाहता है तो उस कार्य को उचित रुप से सिद्ध करनेवाले साधनों का निर्वाचन करता है। उस उत्तम कार्य को सिद्ध करने में क्या बाधा आ सकती है, उसका भी पता लगाता है। बाधकों का ज्ञान प्राप्त करके पुनः उन बाधकों को हटाने के लिए उपायों की गवेषणा करता है। जब-जब बाधक कार्य में बाधा उपस्थित करते हैं, तब-तब उनके निवारण के लिए उन साधनों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार से योगमार्ग में उपस्थित होने वाले अन्तरायों=विघ्नों का परिज्ञान और उनके निवारण के साधनों का परिज्ञान योगाभ्यासी को अवश्य ही कर लेना चाहिए।

योग-मार्ग में अनेक बाधक हैं

उनमें **प्रथम 'व्याधि'** अर्थात् 'रोग' है। वात, पित्त और कफ तथा रस-रक्त आदि धातुओं में विषमता आ जाना 'रोग' है। ज्वरादि रोग होने पर समाधि भंग हो जाती है। योगाभ्यासी व्यक्ति रोग की अवस्था में कुछ सीमा तक ही समाधि लगाने में सफल हो सकता है, और कुछ सीमा तक रोग से उत्पन्न दुःख को भी रोकने में समर्थ हो सकता है, परन्तु अतितीव्र रोग होने पर समाधि भंग हो जाती है और रोग से उत्पन्न दुःख योगी को अनुभव होने लगता है। नवीन साधक के ध्यान में तो साधारण रोग से भी बाधा उपस्थित हो जाती है। इसलिए रोग योग का विरोधी है। जैसे रोग योग का विरोधी है, वैसे ही योग भी रोग का विरोधी है। योग मानसिक रोगों को तो तत्काल समाप्त कर देता है और शरीरिक रोगों को भी दूर करने में कुछ सीमा तक सहायक होता है, परन्तु प्रत्येक शारीरिक रोग को मानसिक रोगों की भाँति सर्वथा दूर नहीं कर सकता।

योग में दूसरा बाधक 'अकर्मण्यता' है अर्थात् परिश्रम

करने से बचने की इच्छा। जो व्यक्ति परिश्रम नहीं करना चाहता, वह योगी नहीं बन सकता, इसलिए अकर्मण्यता को दूर करने के लिए परिश्रम करना अनिवार्य है।

तीसरा बाधक 'संशय' है। एक विषय में दो प्रकार का विरोधी ज्ञान संशय कहाता है। जैसे कि ईश्वर के विषय में व्यक्ति यह विचार करता है कि पता नहीं ईश्वर है या नहीं ? यदि है तो निराकार है या साकार ? इस प्रकार से संशय उत्पन्न होने पर साधक की स्थिति बिगड़ जाती है और वह परिश्रम करना छोड़ देता है। किसी विषय में संशय उत्पन्न होने पर यदि उसका समाधान हो जाता है तो व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है और समाधान न होने पर प्रगति अवरूद्ध हो जाती है। इसी प्रकार से योग के विषय में संशय उत्पन्न होने पर साधक की गति रूक जाती है अथवा वह योगमार्ग को ही छोड़ देता है। इसीलिए संशय योग का विरोधी है। जब योगाभ्यासी व्यक्ति योग द्वारा ईश्वर की सहायता से अपने ज्ञान का विकास करके उसको दृढ़ बना लेता है जो उसके सभी संशय दूर हो जाते हैं।

चौथा बाधक 'प्रमाद' है। प्रमाद का अभिप्राय है समाधि साधनों का आचरण न करना, उनकी उपेक्षा करना। एक व्यक्ति योग साधनों के आचरण करने में समर्थ है, पुनरपि उन साधनों का आचरण नहीं करता। संसार में अनेक ऐसे लोग हैं जो कि योग के साधनों का आचरण करके आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु वे उन साधनों का आचरण नहीं करते। किसी कार्य को सिद्ध करने में उस कार्य को सिद्ध करनेवाले साधनों का प्रयोग तो करना ही पड़ता है। बिना साधनों के प्रयोग किये साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

पाँचवाँ बाधक 'आलस्य' है। शरीर और मन में भारीपन के कारण व्यक्ति योगाभ्यास का परित्याग कर देता है। आलस्य के होने पर व्यक्ति को विश्राम बहुत प्रिय लगता है। विश्राम को छोड़कर व्यक्ति योगाभ्यास नहीं करना चाहता। वह यह समझता है कि जितना आनन्द विश्राम में हैं, उतना योगाभ्यास में नहीं। इसी कारण से मनुष्य विश्राम

की ओर आकृष्ट रहता है। विश्राम शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए अनिवार्य है, परन्तु अनावश्यक विश्राम योग का विरोधी है। जिस प्रकार आलस्य योग का विरोधी है, उसी प्रकार से योग भी आलस्य का विरोधी है। योगी के जीवन में आलस्य अपना स्थान नहीं बना सकता। जैसे-जैसे व्यक्ति की योग में गति होती जाती है, वैसे-वैसे उसका आलस्य समाप्त होता जाता है।

छठा बाधक 'अवरिति' है। अविरति का अभिप्राय है वैराग्य का अभाव अथवा इन्द्रियों की विषय-भोगों में रूचि। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उनके रूपादि पाँच विषय हैं। जब साधक रूपादि पाँच विषयों को भोगने की इच्छा से युक्त होता है, तब योग में गति नहीं कर पाता। विषय-भोगों का आकर्षण व्यक्ति को ईश्वर की ओर नहीं जाने देता। विषय भोग की इच्छा योग की जड़ को उखाड़ देती है। जिस प्रकार से विषय भोग योग का विरोधी है, उसी प्रकार से योग विषय-भोग का निवारक है। विषय भोगों को योगाभ्यास से छोड़ा जा सकता है। योग मार्ग में सफलता मिलने पर व्यक्ति सभी विषय भोगों को विष के तुल्य समझकर उनका परित्याग कर देता है। बिना योग के विषय भोगों का पूर्णरूपेण त्याग नहीं हो सकता।

सातवाँ बाधक 'भ्रान्तिदर्शन' है। किसी भी विषय में विपरीत ज्ञान को 'भ्रान्तिदर्शन' कहते हैं। जैसे कि जड़ वस्तु को चेतन समझना और चेतन वस्तु को जड़ समझना, जो ईश्वर नहीं है, उसे ईश्वर समझना, उसकी उपासना करना, हानिकारक वस्तुओं को लाभदायक समझना और लाभदायक वस्तुओं को हानिकारक समझना 'भ्रान्तिदर्शन' है। जब तक मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को विपरीत समझता है तब तक योगी नहीं बन सकता। विपरीत ज्ञान योग का विनाशक है व योग विपरीतज्ञान का विरोधी है। समाधि प्राप्त करने पर साधक के अज्ञान का नाश और सत्यज्ञान का विकास होता है। बिना योग के सूक्ष्म मिथ्याज्ञान का नाश संभव नहीं है।

आठवाँ बाधक 'समाधि की अप्राप्ति' है। जब व्यक्ति

लम्बे काल तक योगाभ्यास करता है और उसके पश्चात् भी समाधि की प्राप्ति नहीं होती, ऐसी अवस्था में साधक के मन में निराशा उत्पन्न होती है और समाधि प्राप्ति के लिए प्रयास की मात्रा न्यून हो जाती है। इसी कारण से योगमार्ग में प्रगति नहीं होती। यदि योगाभ्यासी ऋषियों के बतलाये किसी एक भाग का प्रयोग करके प्रत्यक्ष देख लेता है, तो उसका परिणाम सामने आ जाता है और उससे योग में श्रद्धा बढ़ जाती है। इसलिए इस बाधा को योग के आचरण से ही दूर किया जा सकता है।

नववाँ बाधक 'अनवस्थितत्व' है। जब योगाभ्यासी अपने प्रयास से समाधि को प्राप्त तो कर लेता है, परन्तु समाधि स्थिर नहीं रहती, उखड़ती रहती है इसको 'अनवस्थितत्व' कहते हैं। जब साधक विधिपूर्वक लम्बे काल तक योगाभ्यास करता है तो अस्थिरता समाप्त हो जाती है। इसलिए लम्बे काल तक विधिपूर्वक योगाभ्यास करके इस बाध ा को दूर करना चाहिए।

योगविघ्नों की भाँति दुःख, दौर्मनस्य, अंगों का काँपना, श्वास और प्रश्वास का व्यापार उचित प्रकार से न होना, ये योग के उपविघ्नों का परिज्ञान अवश्य ही कर लेना चाहिए और इनके निवारण के लिए उपायों का परिज्ञान करना भी आवश्यक है। प्रत्येक योगाभ्यासी को यह निश्चित जानना चाहिए कि इन विघ्नों और उपविघ्नों को दूर करने का महान् उपाय ईश्वरप्रणिधान है। यह बात पूर्व बतलाई जा चुकी है कि विधिपूर्वक ईश्वरप्रणिधान करने से ईश्वर तथा आत्मा अर्थात् अपना साक्षात्कार होता है और योग के शत्रुओं का निवारण होता है।

मनुष्य-समाज में योगाभ्यासी का व्यवहार

मनुष्य-समाज में योगाभ्यासी का व्यवहार किस प्रकार का हो, यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। योगाभ्यासी का मन सदा प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि प्रसन्न मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। जब साधक के मन में क्षोभ रहता है तो मन एकाग्र नहीं होता। मनुष्य को समाज में

रहते हुए कभी अनुकूलता होती है और कभी प्रतिकूलता। अनुकूलता में प्रसन्नता और प्रतिकूलता में अप्रसन्नता होती है। मनुष्य समाज को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है। समाज में मनुष्यों का एक वर्ग ऐसा है कि जो सुख और सुख साधनों से सम्पन्न है और उस वर्ग का आचरण अधिक निम्न आचरणवाले लोगों से अपेक्षाकृत अच्छा है। दूसरा वर्ग ऐसा है जो कि साधनहीन है और बहुत दुःखी है। तीसरा वर्ग ऐसा है कि जो विद्वान् धार्मिक महात्माओं का है। चौथा वर्ग ऐसा है कि जो अधर्माचरण अर्थात् असत्य आचरण और चोरी आदि बुरे कर्म करनेवाला है। योगाभ्यासी व्यक्ति इन चार प्रकार के मनुष्यों के साथ चार प्रकार का व्यवहार करे तो उसका मन प्रसन्न हो जाता है और प्रसन्न हुआ मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। समाज में जो मनुष्य सुख और सुख साधन-सम्पन्न है, उनके साथ मित्रता का व्यवहार करें। मित्रता का व्यवहार करने से मन प्रसन्न होता है और सुखसाधन सम्पन्न मनुष्यों के प्रति द्वेष नहीं होता। यदि साधक उनके साथ मित्रता का व्यवहार न करे तो ईर्ष्या-द्वेष हो सकता है। ईर्ष्या-द्वेष करने से मन में क्षोभ उत्पन्न होता है और क्षोभ युक्त मन एकाग्र नहीं होता। इसलिए सुख साधन-सम्पन्न मनुष्यों के साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। दूसरे दुःखी और साधनहीन मनुष्यों के साथ दया का व्यवहार करना चाहिए। दुःखियों के साथ दया का व्यवहार करने से परोपकार की भावना उत्पन्न होती है। दुःखी मनुष्यों के दुःखों को दूर करने से और उनको सुख पहुँचाने से आनन्द की अनुभूति होती है तथा परोपकार करनेवाले मनुष्य का मन निर्मल हो जाता है। जब मनुष्य दुःखियों की सहायता नहीं करता, तब उसका मन अति कठोर और घृणायुक्त हो जाता है। ऐसा मन एकाग्रता की स्थिति में नहीं आ पाता। इसलिए दुःखियों पर दया की भावना करनी चाहिए। तीसरे वर्ग के मनुष्यों के साथ हर्ष की भावना का व्यवहार करना चाहिए। जो विद्वान् धार्मिक महात्मा हैं उन्हें देखकर हर्ष का अनुभव करना चाहिए। यदि महात्माओं के साथ हर्ष का व्यवहार न किया जाए तो उन से द्वेष हो सकता है और द्वेष से दुःख, दुःख से अप्रसन्नता उत्पन्न होती है।

अप्रसन्न मन एकाग्र नहीं होता। इसलिए महात्माओं को देखकर आनन्द व हर्ष की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। चौथे वर्ग के मनुष्यों के साथ उपेक्षा का व्यवहार करना चाहिए। उनके प्रति न राग करना चाहिए और न द्वेष। मनुष्य समाज में इस प्रकार से रहने पर योगाभ्यास में सफलता मिलती है।

इस प्रकार से ईश्वर प्राप्ति करने के अनेक साधन है। उनका बार-बार प्रयोग करने से साधक आगे बढ़ता जाता है और साधनों का प्रयोग न करने से व्यक्ति अपनी उन्नति में स्वयं ही बाधक बन जाता है। एक बात योगाभ्यासी के लिए आवश्यक है कि योगाभ्यास करने में कभी सफलता और कभी विफलता मिलती रहती है। उचित साधनों के प्रयोग से सफलता और अनुचित साधनों के प्रयोग से विफलता मिलती है। जब कभी विफलता मिले तो साधक निराश न हो, क्योंकि निराशावादी बनने से महती हानि होती है। आशावादी व्यक्ति कभी-न-कभी अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँच जाता है। जब कभी साधना करते समय भूल हो जाए तो उसका प्रायश्चित करके अर्थात् कोई उचित दण्ड लेकर पुनः उस कार्य को सम्पन्न करे। प्रायश्चित्त करने का लाभ यह है कि उस दोष के करने की प्रवृत्ति समाप्त होती है और व्यक्ति सावधान हो जाता है।

इस प्रकरण में विवेक, वैराग्य, अभ्यास, ईश्वर प्रणिधान, मनुष्य-समाज में रहते हुए योगाभ्यासी के लिए मनको प्रसन्न करने के उपाय और आशावादी बनकर ही व्यक्ति योग मार्ग में सफलता प्राप्त कर सकता है, इत्यादि योग के साधनों का वर्णन किया है। इन साधनों के उचित प्रयोग से साधक अपने मन को इतना अधिकार में कर लेता है कि उसे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पदार्थ में अपनी इच्छा के अनुसार एकाग्र कर सकता है। जब व्यक्ति मन पर पूर्णाधिकार कर लेता है तो सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है और सम्प्रज्ञात समाधि से भी वैराग्य हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि से ईश्वर साक्षात्कार होता है और ईश्वर साक्षात्कार से समस्त क्लेशों की निवृत्ति

तथा नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। यही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है और इसी की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को निष्काम भावना से तन, मन और धन लगाना चाहिए। सांसारिक भोगों से कभी भी वास्तविक नित्यानन्द नहीं मिल सकता।

साधारण मनुष्यों के लिए योग का अनुष्ठान

इससे पूर्व प्रकरण में विशेष योग्यतायुक्त मनुष्यों के लिए योग के साधनों का वर्णन किया है। अब उन लोगों के लिए योग के साधनों का वर्णन किया जाएगा जो अल्प योग्यतावाले हैं, जिनका मन अधिक चंचल है, सांसारिक विषय भोगों में अधिक रुचि है और पूर्वजन्म की योग्यता भी न्यून है। साधारण मनुष्यों को योगी बनने के लिए योग के आठ अङ्गों के आचरण का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति योग के आठ अङ्गों का मन, वचन और शरीर से ठीक प्रकार से पालन करता है, वह धीरे-धीरे ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है। योग के आठ अङ्ग ये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। यम के पाँच भेद हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

प्रथम यम : अहिंसा

सर्वदा, सर्वथा, सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव को छोड़कर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना 'अहिंसा' है। अहिंसामय जीवन-यापन और हिंसा करने के मुख्य रूप से तीन साधन हैं- मन, वाणी और शरीर। इन्हीं तीन साधनों के द्वारा व्यक्ति या तो हिंसा करता है अथवा अहिंसामय जीवन-यापन करता है। अहिंसा योग का साधन है और हिंसा योग का बाधक है। जो व्यक्ति योगी बनना चाहता है और योग के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है, वह हिंसा को छोड़कर सदा अहिंसा का पालन करे।

अहिंसा और हिंसा के विषय में प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिए कि इन दोनों का वास्तविक स्वरूप क्या है। जिस कर्म द्वारा शरीर तथा वाणी से अन्यायपूर्वक मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि प्राणियों को दुःख दिया जाता है और मन से भी अन्यायपूर्वक

दुःख देने का प्रयास किया जाता है तथा वैरभाव पूर्वक दुःख दिया जाता है वह हिंसा है। किसी व्यक्ति को दोष का उचित दण्ड देने में उसके प्रति वैरभाव रखना भी हिंसा कहाती है। जैसे कि कोई राजा किसी दोषी व्यक्ति को दण्ड देता है और दण्ड देते समय उसके प्रति वैरभाव रखता है, प्रीतिपूर्वक दण्ड नहीं देता, तो यह भी हिंसा है। किसी भी प्राणी को दुःख देना मात्र हिंसा नहीं है। जैसे माता, पिता, गुरु, राजा, आदि जब किसी दोषी व्यक्ति को उसके और अन्यों के कल्याण के लिए दण्ड देते हैं तो वह हिंसा नहीं है। एक माता अपने छोटे बालक के त्रुटि करने पर उस त्रुटि से बालक को बचाने के लिए प्रेमपूर्वक दण्ड देती है तो इसका नाम हिंसा नहीं है। इसी प्रकार एक आचार्य दोष करने पर अपने शिष्यों को उनके कल्याण के लिए प्रेमपूर्वक व क्रोधरहित होकर दण्ड देता है, तो वह हिंसा नहीं है। जब कोई राजा चोरी करने वाले व्यक्ति को चोरी से बचाने के लिए दण्ड देता है तो वह हिंसा नहीं है, किन्तु अहिंसा है। जब किसी हिंसा करनेवाले व्यक्ति को हिंसा करने से रोक दिया जाता है तो वह भी अहिंसा ही है। अन्यायपूर्वक प्राणियों को दुःख देना, उनसे वैरभाव रखना हिंसा है और इसके विपरीत अहिंसा है।

जिस हिंसा में प्राणियों को शरीर से दुःख पहुँचाया जाता है वह 'शारीरिक हिंसा' है। जैसे किसी प्राणी को अन्यायपूर्वक मारना, पीड़ा देना आदि। जिसमें अन्यायपूर्वक बोलकर वाणी से प्राणियों को दुःख पहुँचाया जाता है, वह 'वाचिक हिंसा' है। जैसे कठोर बोलना, क्रोधित होकर बोलना आदि। जिसमें प्राणियों का अनिष्ट करने का विचार किया जाए, निर्दोष होने पर भी उसे मार डालने की योजना बनाई जाए, द्वेष किया जाये, वह 'मानसिक हिंसा' है। जो आचरण इस हिंसा के विपरीत है, वह अहिंसा है। जब व्यक्ति स्वयं हिंसा करता है, वह तो हिंसा है ही, परन्तु जो हिंसा दूसरे व्यक्ति से करवाई जाती है अथवा हिंसा करने वाले व्यक्ति का समर्थन किया जाता है, वह भी हिंसा है। जैसे कि एक व्यक्ति कहता है कि अमुक प्राणी को मारो और दूसरा व्यक्ति प्राणी को मार देता है। मारनेवाला तो हिंसक होता ही है, परन्तु मारने की अनुमति

या आज्ञा देनेवाला भी हिंसक है। जो व्यक्ति हिंसा करनेवाले मनुष्य का समर्थन करता है या प्रोत्साहित करता है कि आपने बहुत अच्छा कार्य किया, तो यह हिंसा का समर्थन करना भी हिंसा है। इन तीन प्रकार की हिंसा को छोड़ देना और इनके विपरीत आचरण करना अहिंसा है।

हिंसा के कारण

हिंसा का परित्याग करने के लिए हिंसा के उत्पादक कारणों का परिज्ञान करना आवश्यक है, क्योंकि कारण को हटाये बिना कार्य को नहीं हटाया जा सकता। जब व्यक्ति हिंसा के उत्पादक कारणों को जान लेता है तो हिंसा के त्यागने में समर्थ हो जाता है, अतः जिन कारणों से हिंसा की उत्पत्ति होती है, उन कारणों को जानना चाहिए।

हिंसा का प्रथम कारण 'लोभ' है। लोभ के कारण व्यक्ति व्यक्ति हिंसा करता है। जब मनुष्य किसी प्राणी को मारता है तो उसमें लोभ कारण होता है। कहीं चमड़े का लोभ होता है। कहीं मांस का लोभ होता है और कहीं रसना इन्द्रिय के रस का लोभ होता है। संसार में विविध प्रकार के लोभों के कारण मनुष्य हिंसा करता रहता है। धन और सम्पत्ति के लोभ के कारण व्यक्ति दूसरों को धोखा देता है, खाद्यवस्तुओं में मिलावट करता है, दूसरों के धन और सम्पत्ति को अन्याय से छीन लेता है, चोरी करता है, डाके डालता है, झूठे अभियोग करता है, झूठा साक्षी बनता है। सम्मान प्राप्ति के लिए भी अनेक प्राणियों को सन्तप्त करता है। इस प्रकार हिंसा करने में लोभ भी कारण है।

हिंसा का दूसरा कारण 'क्रोध' है। क्रोध से मनुष्य अन्य प्राणियों की हिंसा करता है। क्रोध व्यक्ति की बुद्धि के सन्तुलन को समाप्त कर देता है। क्रोध से प्रभावित व्यक्ति यह नहीं जान पाता कि जिस कार्य को मैं कर रहा हूँ, इसका परिणाम कितना भयंकर होगा। जब क्रोध के कारण व्यक्ति अनुचित कार्य कर लेता है और उसका क्रोध शान्त हो जाता है तो पुनः उसको समझ में आता है कि मैंने बहुत बुरा कार्य किया है। एक क्रोधी व्यक्ति पूरे परिवार को सदा दुःख देकर हिंसा

करता रहता है। यदि राजा क्रोधी हो तो अपराधी के थोड़े दोष का बहुत अधिक दण्ड देता है। क्रोधी मनुष्य सहनशक्ति से हीन हो जाता है और सहनशक्ति न होने से उसकी अधिकांश चेष्टायें हिंसा से प्रेरित होती हैं। क्रोधी मनुष्य वाणी और मन से हिंसा करता रहता है और हिंसा करने के कारण स्वयं भी दु:खी रहता है और दूसरों को भी दु:ख देता रहता है। क्रोध भी हिंसा का एक कारण है अत: हिंसा की प्रवृत्ति को रोकने के लिए क्रोध को रोकना आवश्यक है।

हिंसा का तीसरा कारण 'मोह' है। मोह के कारण मनुष्य हिंसा करता है। अज्ञान के कारण किसी वस्तु के साथ जो 'मैं' और 'मेरे' का अनुचित सम्बन्ध बनाता है, वह मोह कहलाता है। जैसे कि एक व्यक्ति यह कहता है कि यह भूमि मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ और सदा इसका स्वामी रहूँगा, ईश्वर का इस भूमि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह शारीरिक बल मेरा है, यह विद्या मेरी है, सदा मेरे साथ रहेगी, ईश्वर का इन वस्तुओं के साथ कोई संबंध नहीं है, जो वस्तुएँ मेरे पास हैं, उनका तो मैं स्वामी हूँ ही, परन्तु जो वस्तुएँ अन्य मनुष्यों के पास हैं, उनका भी मैं जिस किसी प्रकार से स्वामी बन जाऊँ और वे सभी वस्तुएँ सदा मेरे ही अधिकार में रहे। ये जड़ और चेतन वस्तुएँ आनन्द से परिपूर्ण हैं मुझे ये कृतकृत्य बना देगी। ईश्वर का साक्षात्कार करने या ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार से अज्ञानपूर्वक जो मैं और मेरे का सम्बन्ध है, वह मोह कहलता है। परन्तु जो वस्तुएँ न्यायपूर्वक प्राप्त हुई हैं, उनका प्रयोग अपने और दूसरों के कल्याण के लिए करना, उनका मुख्य स्वामी ईश्वर को मानना तथा स्वयं को केवल प्रयोग का अधिकारी समझना मोह नहीं है।

व्यक्ति अनुचित रूप से जड़ और चेतन पदार्थों का स्वामी बन जाता है, क्योंकि ये सभी वस्तुएँ उसके सुख के साधन हैं। सुख के साधनों की रक्षा के लिए व्यक्ति शरीर, वाणी और मन से विविध प्रकार की हिंसा करता है। जैसे कि एक व्यक्ति अपने परिवार को सब प्रकार से उन्नत करना चाहता है, किन्तु परिवार को उन्नत बनाने के लिए साध

ान नहीं मिलते तो अनुचित साधनों के द्वारा अपने परिवार को ऊँचा उठाने का प्रयास करता है। रिश्वत लेता है, चोरी करता है, डाके डालता है। वह यह समझता है कि इन सब कार्यों के करने से मेरा परिवार ऊँचा उठेगा, सुख-सम्पन्न होगा, इत्यादि। इन हिंसायुक्त कार्यों का कारण मोह है। जब किसी मोह-ग्रस्त व्यक्ति का सम्बन्धी चोरी आदि बुरा कर्म करता है तो मोहयुक्त व्यक्ति उसे दण्ड नहीं देना चाहता, परन्तु किसी विरोधी का पुत्र चोरी आदि बुरा कर्म कर देवे तो उसको अल्प दोष में अधिक दण्ड देता है। संसार में प्रायः हिंसा के रूप में लड़ाई-झगड़े और बड़े-बड़े भयंकर युद्ध होते रहते हैं, जिनमें लाखों प्राणी मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं और लम्बे कालपर्यन्त विविध दुःखों को भोगते हैं। इस हिंसा का कारण मोह अर्थात् मैं और मेरा है। यदि लोभ, क्रोध और मोह को हटा दिया जाये तो हिंसा का परित्याग हो सकता है।

अहिंसा पालन के उपाय

प्रथमोपाय यह है कि हिंसा के करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें साधक अच्छे प्रकार से जाने। जब व्यक्ति किसी कार्य के दोषों को जान लेता है तो उस कार्य को छोड़ देता है। जैसे कोई व्यक्ति भूल से अग्नि में हाथ डाल देता है और उसका परिणाम दुःख होता है तो उस दुःख के परिणाम को देखकर व्यक्ति अग्नि में हाथ डालना छोड़ देता है। इसी प्रकार हिंसा के दोषों को जानकर व्यक्ति हिंसा करना छोड़ देता है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि यदि मुझे कोई मारे अथवा दुःख देवे तो मैं उसे बुरा समझता हूँ। इसी प्रकार मैं भी किसी को मारूँगा अथवा दुःख दूँगा तो वह भी बुरा समझेगा। ऐसा अनुभव करने से व्यक्ति की हिंसा छूट जाती है।

दूसरा उपाय – जब मनुष्य ईश्वर को संसार के समस्त प्राणियों का पिता, माता, राजा, गुरु मान लेता है तो सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव छोड़ देता है, क्योंकि ईश्वर को माता-पिता आदि मानने से सब के प्रति प्रेम की भावना उभरती है। जैसे लोक में धार्मिक विद्वान् पिता का धार्मिक पुत्र अपने भाई और बहनों के साथ प्रेम से रहता है वैसे ही

जो व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों को अपने परिवार के सदस्य समझता है तो वैरभाव को छोड़कर प्रेम से रहता है। इस प्रकार से अहिंसा के उपायों का प्रयोग करते-करते व्यक्ति शरीर, वाणी और मन से हिंसा का परित्याग कर पूर्णरूप से अहिंसा का पालन करने लगता है।

अहिंसा का फल

जब व्यक्ति शरीर, वाणी और मन से सर्वदा, सर्वथा, जाति, देश, काल (तिथि आदि) और समय (प्रतिज्ञा, नियम आदि) से अबाधित अहिंसा का पालन करता है तो उस व्यक्ति का सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है, वह साधक जैसा अपना हित चाहता है वैसा ही मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि सभी प्राणियों का हित भी चाहता है। जो मनुष्य उस अहिंसा के पालन करने वाले का सत्संग करते हैं और उसकी बातों को समझते हैं, उनका भी यथायोग्य वैरभाव छूट जाता है, परन्तु पूर्णरूपेण अहिंसा का पालन करनेवाले के प्रति भी सब के सब प्राणी कभी भी वैरभाव नहीं छोड़ सकते, क्योंकि सभी प्राणियों में वैरभाव छोड़ने की योग्यता नहीं है।

दूसरा लाभ - जो व्यक्ति सभी प्राणियों से प्रेम करता है, ईश्वर उसे विशेष सहायता प्रदान करता है। ईश्वर सदा अहिंसा का पालन करता है, अतः उस अहिंसक व्यक्ति की ईश्वर के साथ मित्रता हो जाती है। समान गुणवालों में मित्रता होती है, विरूद्ध गुणवालों में नहीं।

तीसरा लाभ - अहिंसा के पालन से तीसरा लाभ यह होता है कि दुःख की निवृत्ति और शांति की प्राप्ति होती है। हिंसा करनेवाले व्यक्ति के मन में सदा क्षोभ रहता है और जब व्यक्ति हिंसा को छोड़कर अहिंसा का व्यवहार करता है तो शान्ति उत्पन्न होती है। शान्ति की अनुभूति मन में उत्साह उत्पन्न करती है।

चौथा लाभ - अहिंसा से चौथा लाभ है बुद्धि का विकास। हिंसक व्यक्ति की बुद्धि हिंसा से नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। हिंसा के छोड़

देने पर तथा अहिंसा का पालन करने पर बुद्धि का विकास होता है। लोक में यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि जब मनुष्य हिंसा करता है तो उसकी बुद्धि विवेकहीन हो जाती है और जब प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है तो बुद्धि विवेकयुक्त होती है।

पाँचवाँ लाभ – पाँचवाँ लाभ उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति है। हिंसक मनुष्य सदा शरीर और मन से सन्तप्त रहता है, इससे शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, परन्तु अहिंसा का पालन करनेवाला व्यक्ति हिंसा से उत्पन्न होनेवाले रोगों से बच जाता है।

छठा लाभ – अहिंसा का पालन करने से मनुष्य में संगठन की शक्ति आती है। परस्पर संगठित रहने से अपना और दूसरों का कल्याण होता है। विघटन से सदा सबकी हानि होती है। इसलिए शरीर, वाणी और मन से अहिंसा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख कार्य है, इसी के पालन करने से अपना, समाज का और विश्व का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं।

द्वितीय यम : सत्य

प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण अथवा शब्द प्रमाण से जो वस्तु जैसी जानी जाये वैसी ही मन और वाणी में हो, तो वह 'सत्य' कहलाता है। स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के शब्दों में सत्य की परिभाषा यह है "जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है।" (सत्यार्थ प्रकाश भूमिका) सत्य के स्वरूप को इस प्रकार भी कह सकते है कि प्रथम प्रमाणों के द्वारा वस्तु के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानना, फिर वैसा ही मानना और जैसा मन में हो वैसा ही सभी प्राणियों के हित के लिए बोलना तथा शरीर से भी वैसा ही आचरण करना 'सत्य' कहलाता है, इसके विपरीत 'असत्य' कहलाता है। प्रमाणों के द्वारा परीक्षा किये बिना किसी वस्तु को स्वरूप से विपरीत जानना, मानना और बोलना तथा शरीर से आचरण करना असत्य की कोटि में आता है। उदाहरणार्थ एक मनुष्य रात्रि के मन्द प्रकाश में एक

ठूँठ को देखता है और प्रमाणों के द्वारा परीक्षा किये बिना ही कहता है कि यह मनुष्य है। यदि उसको चोर भी समझ ले तो अपने धन की रक्षा के लिए वहाँ से भाग पड़ता है। इसी का नाम असत्य है। इसलिए जो पदार्थ जैसा हो, उसको वैसा ही जानना, मानना, बोलना और शरीर से वैसा ही आचरण करना 'सत्य' कहलाता है। सभी मनुष्यों को सर्वदा, सर्वथा, सर्वहितकारी सत्य ही बोलना चाहिए परन्तु किसी का अपमान करने के लिए अथवा किसी को हानि पहुँचाने के लिए सत्य भाषण नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दूसरों को अपमानित करने के लिए अथवा दुःख देने के लिए सत्यभाषण करता है तो वह योग-मार्ग पर नहीं चल सकता। इसलिए योगजिज्ञासु को परीक्षा करके सदा सत्य, मधुर और हितकारी मानना, बोलना और शरीर से करना चाहिए।

सत्याचरण के लाभ

संसार में प्रत्येक मनुष्य जो कुछ भी मन, वाणी और शरीर से कार्य करता है वह दुःख से छूटने के लिए और सुख प्राप्त करने के लिए करता है। जिस सुख को व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है, वह सांसारिक सुख भी हो सकता है और ईश्वर का नित्य सुख भी हो सकता है सत्य के आचरण से ही सांसारिक सुख और ईश्वर के नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति सदा सत्य ही बोलता है, उसका सभी बुद्धिमान् लोग विश्वास करते हैं और जो व्यक्ति असत्य बोलता है उसका विश्वास नहीं करते। जो मनुष्य एक बार भी किसी के समक्ष असत्य भाषण करता है तो उसका लम्बे काल पर्यन्त सत्य बोलने पर भी विश्वास नहीं होता। सत्य व्यवहार से सभी कार्यों में सफलता मिलती है और असत्य व्यवहार से असफलता मिलती है। सत्य व्यवहार करने से प्रारम्भ में कठिनाई प्रतीत होती है, परन्तु जब व्यक्ति को सत्य का ठीक प्रकार से प्रयोग करना आ जाता है और सत्य का उत्तम परिणाम सामने आता है तो सब कठिनाईयाँ दूर हो जाती है। असत्य व्यवहार करने में प्रथम लाभ प्रतीत होता है और असत्य व्यवहार सरल भी प्रतीत होता है, परन्तु अन्त में उसके भयंकर परिणाम सामने आते हैं तो मनुष्य सन्तप्त

हो जाता है और अपनी भूल मानता है कि मैंने यह कार्य अच्छा नहीं किया। सत्य व्यवहार करने से आत्मा सदा प्रसन्न रहता है और असत्य व्यवहार करने से आत्मा क्लेशों से युक्त रहता है। सत्यवादी व्यक्ति को एक बार ही सत्य बोलना पड़ता है, भले ही उस सत्य भाषण से कोई रुष्ट हो जाए, परन्तु असत्यवादी एक बार झूठ बोलता है। पुनरपि उसका असत्य प्रायः पकड़ा जाता है और असत्य बोलने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। असत्य बोलनेवाला व्यक्ति यदि सत्य बोलता है तो भी लोग उसके सत्य को असत्य ही मानते हैं और कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता। सत्य बोलने के कारण मनुष्य सभी बुरे कर्मों का त्याग कर देता है और असत्य बोलनेवाला मनुष्य असत्य बोलने के कारण सभी बुरे कर्मों को करने लग जाता है। इसलिए यह कहा गया है कि सत्य के तुल्य कोई धर्म नहीं है और असत्य के तुल्य कोई पाप नहीं है। उपनिषद् के अनुसार सत्य बोलना ही धर्म है और असत्य बोलना अधर्म है। उपनिषत्कार ने अपना निर्णय दिया है **'सत्यमेव जयते नानृतम्'** सत्य की ही जीत होती है अनृत-असत्य की नहीं। ईश्वर के न्याय के अनुसार सत्य का फल उत्तम सुख है और असत्य का फल दुःख है। यही सत्य की जीत और असत्य की हार है। सत्यवादी मनुष्य ही पूर्णरूपेण स्वस्थ हो सकता है। असत्यवादी स्वस्थ नहीं हो सकता, क्योंकि स्वस्थ मनुष्य के विषय में आयुर्वेद में यह भी लिखा है कि जिस मनुष्य के मन, इन्द्रिय और आत्मा प्रसन्न हों, उसी को स्वस्थ कहा जाता है। असत्य बोलने वाले मनुष्य के मन, इन्द्रिय और आत्मा कभी प्रसन्न नहीं रह सकते, इसलिए वह पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं रह सकता। सत्यवादी मनुष्य का प्रभाव परिवार, समाज, देश और विश्व पर अत्यन्त उत्तम पड़ता है और उसके इतिहास से भी सबको सत्य बोलने की प्रेरणा मिलती है। असत्यवादी व्यक्ति का प्रभाव परिवार, समाज, देश और विश्व पर अत्यन्त बुरा पड़ता है और उसके इतिहास से सबको असत्य बोलने की प्रेरणा मिलती है। सत्यवादी लम्बेकाल तक चलनेवाले संगठन का निर्माण करने में समर्थ होता है और असत्यवादी व्यक्ति समाज में विघटन उत्पन्न

करता है इत्यादि सत्याचरण से अनेक लौकिक लाभ होते है और दोषों का निवारण होता है।

सत्य से आध्यात्मिक लाभ

जो मनुष्य सदा सत्य ही जानता, सत्य ही मानता, सत्य ही बोलता और शरीर से भी सदा सत्याचरण करता है, वह ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। असत्यवादी मनुष्य ईश्वर को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इस विषय में उपनिषत्कार ने कहा है कि **'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'** यह आत्मा अर्थात् परमात्मा सत्य से प्राप्त होता है। जो मनुष्य जाति, देश, काल (तिथि आदि) और समय (प्रतिज्ञा, नियम आदि) इन चारों से अबाधित सत्य बोलता है, वही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है, असत्यवादी नहीं। सत्यवादी ईश्वर के साथ मित्रता कर सकता है, असत्यवादी ईश्वर के साथ मित्रता नहीं कर सकता, क्योंकि ईश्वर सदा सत्य का ही आचरण करता है, असत्य का नहीं। सत्याचरण करनेवाले के साथ सत्याचरण करनेवाले की ही मित्रता हो सकती है, असत्याचरण करनेवाले के साथ नहीं। सत्य बोलने से मनुष्य का मन शुद्ध होता है और शुद्ध होने से सरलता से ईश्वर के ध्यान में लग जाता है। असत्य बोलने से मन अशुद्ध हो जाता है और अशुद्ध मन ईश्वर के ध्यान में नहीं लगता। जब मनुष्य मन, वाणी और शरीर से अच्छे प्रकार सत्य का आचरण करता है तब अहिंसा आदि यम और शौच आदि नियमों के पालन करने में सफलता मिलती है तथा यम-नियमों के पालन करने से समाधि की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य असत्याचरण करता है वह यम-नियमों के पालन करने में सफल नहीं होता और यम-नियमों का पालन न होने से समाधि की सिद्धि नहीं होती। समाधि की सिद्धि न होने से असत्यवादी व्यक्ति ईश्वर के नित्यानन्द से वञ्चित रह जाता है। इस प्रकार सत्याचरण से मनुष्य को सांसारिक सुख मिलता है और ईश्वर के नित्यानन्द की प्राप्ति होती है।

इस विषय में स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में निर्णय दिया है कि सत्य से ही लौकिक सुख

और मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। वेदों में भी सत्याचरण करने और असत्याचरण के परित्याग का विधान बार-बार आया है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सदा सत्य ही जाने, सत्य ही माने, सत्य ही बोले और शरीर से सत्य कर्म ही करें, असत्य को न जाने, न माने, न बोले और न शरीर से उसका आचरण ही करे।

सत्य-पालन करने के साधन

साधनों के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए सत्यवादी बनने के लिए साधनों का परिज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। सत्य-पालन के निम्न लिखित साधन हैं।

प्रथम साधन - सत्य को जानने और उसका पालन करने के लिए वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए। वेदों के अध्ययन से और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के अध्ययन से सत्य के स्वरूप का ज्ञान, सत्य के पालन करने के लाभ और सत्य पालन करने में आने वाले बाधकों का परिज्ञान होता है। जो व्यक्ति जिस प्रकार के ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उसका जीवन उन्हीं ग्रन्थों के अनुसार बनता जाता है।

दूसरा साधन - सत्य के पालन करने में दूसरा साधन सत्पुरुषों का सङ्ग है। सत्यवादियों के संग से मनुष्य सत्यवादी बनता है और सत्याचरण की पद्धति को जान लेता है। सत्यवादियों के संग रहने से व्यक्ति यह समझ लेता है कि कहाँ-कहाँ पर किस-किस प्रकार से सत्य का पालन किया जाता है। उसके पालन करने में क्या कठिनाई आती है। सत्यवादियों के सङ्ग रहने से सत्य बोलने की और असत्य को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है। वर्तमान काल में असत्य बोलनेवाले लोग बहुत अधिक हैं, क्योंकि उन्हें सत्य बोलने वालों का सङ्ग नहीं मिलता, असत्य बोलनेवालों का सङ्ग मिलता है। अज्ञानता अधिक होने से असत्य बोलनेवाले लोग यह कहते हैं कि बिना असत्य के किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। वे यह भी कहते हैं कि कोई भी मनुष्य सदा सत्य नहीं बोल

सकता। वास्तव में परीक्षण करके देखें तो स्पष्ट होगा कि सब उत्तम कार्यों की सिद्धि सत्य से होती है और सदा सत्य बोला जा सकता है। जो मनुष्य सदा सत्य बोलता है और उसके परिणामों को देखता है वही जान सकता है कि उत्तम कार्यों की सिद्धि सत्य से होती है, असत्य से नहीं। जो मनुष्य असत्य बोलता रहता उसे पता भी नहीं चलता कि उत्तम कार्यों की सिद्धि सत्य से होती है।

तीसरा साधन – ईश्वर की उपासना है। ईश्वर की उपासना अर्थात् भक्ति करने से मनुष्य सत्य के पालन करने में समर्थ हो जाता है। ईश्वर की उपासना करने से मनुष्य को विशिष्ट ज्ञान मिलता है, उस ज्ञान से सत्य और असत्य के जानने तथा सत्य के पालन करने में सरलता हो जाती है। ईश्वर सदा सत्याचरण ही करता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् व आनन्द से परिपूर्ण है। जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करता है अर्थात् ईश्वर के समीप रहता है, उसका स्वभाव ईश्वर–जैसा बन जाता है और जो ईश्वर की उपासना नहीं करता उसका स्वभाव ईश्वर के स्वभाव से विपरीत होता है। जब मनुष्य असत्याचरण करने की योजना बनाता है अर्थात् चोरी आदि बुरा कर्म करने का विचार करता है तो ईश्वर उसके मन में भय, शंका और लज्जा उत्पन्न करता है और जब मनुष्य उत्तम कर्म करने की योजना बनाता है, तो ईश्वर उसके मन में आनन्द, उत्साह और निर्भयता उत्पन्न करता है। इसलिए सत्य के पालन करने में ईश्वर की उपासना से महती सहायता मिलती है।

चतुर्थ साधन – सत्य के पालन करने में चौथा साधन प्रायश्चित है। जब मनुष्य असावधानी अथवा अन्य किसी कारण से असत्याचरण कर ले तो स्वयं उसका दण्ड ग्रहण करे। जब तक मनुष्य अपने असत्याचरण का स्वयं दण्ड नहीं लेता तब तक असत्य से छूटकर सत्य पर आरूढ़ नहीं हो सकता, इसलिए सत्य पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने असत्याचरण का स्वयं दण्ड लेना चाहिए। जो मनुष्य अपने किये हुए दोषों का स्वयं दण्ड नहीं लेता और उन दोषों का प्रबल विरोध नहीं

करता तो वह सत्याचरण में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

हठ, मिथ्याभिमान, अज्ञान आदि ये सब सत्याचरण के अत्यन्त विरोधी है। जब मनुष्य सत्य का आचरण करता है तो ये दोष उसमें बाधक होते हैं, इसलिए इन बाधकों का परित्याग करना आवश्यक है। इस प्रकार सत्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर मन, वाणी और शरीर से सदा सत्याचरण करके लौकिक सुख और ईश्वर का नित्यानन्द प्राप्त करना चाहिए।

तीसरा यम : अस्तेय

स्तेय का अर्थ है चोरी करना, और उसको छोड़ देना 'अस्तेय' कहलाता है। किसी की वस्तु को बिना आज्ञा ले-लेना और छल-कपट व अन्यायपूर्वक ग्रहण करना स्तेय है और उसे छोड़ देना अस्तेय है। शरीर, वाणी और मन इन तीन साधनों के द्वारा मनुष्य चोरी करता है। जब मनुष्य तीनों प्रकार की चोरी को नितान्त छोड़ देता है, तब अस्तेय का पूरा पालन हुआ माना जाता है। शरीर से चोरी छोड़ देना सरल है, परन्तु वाणी से चोरी छोड़ना कठिन है और मन से चोरी छोड़ना बहुत कठिन है। अभ्यास और सामर्थ्य से सब कार्य सरल हो जाते हैं, इसलिए अभ्यास करते-करते मन से भी चोरी का त्याग करना सरल हो जाता है।

चोरी त्याग करने से लाभ

जब मनुष्य सब प्रकार की चोरी का परित्याग कर देता है तब उसे यथायोग्य सुख और सुख के साधनों की प्राप्ति होती है। केवल चोरी छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है, किन्तु यथाशक्ति परिश्रम करना भी अस्तेय के अन्तर्गत आता है। चोरी को छोड़कर व्यक्ति कुछ भी कार्य न करे तो वह भी चोरी जैसा ही है, क्योंकि ईश्वर ने उसे परिश्रम करने के लिए शरीर आदि साधन दिये हैं। यदि मनुष्य उनसे पुरूषार्थ नहीं करता तो वह दोषी है। यदि संसार के सभी मनुष्य परिश्रम करना छोड़ दें तो उसका परिणाम दुःख होगा, इसलिए चोरी को छोड़कर यथाशक्ति परिश्रम करना अस्तेय है। उत्तम कार्यों को भी छोड़ देना और दूसरों से

सुख–साधनों की प्राप्ति करना अस्तेय नहीं है। जब मनुष्य चोरी का परित्याग कर अच्छे कार्यों को करता है तब उसे अस्तेय का फल मिलता है। अस्तेय का फल राजा, समाज और ईश्वर की ओर से मिलता है। जब मनुष्य मन से भी चोरी नहीं करता और यथाशक्ति परिश्रम करता है तो उसे उत्तम समाज और न्यायकारी राजा सभी प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं। जो विद्यार्थी नकल करना छोड़कर अपने परिश्रम से अधिक अंक प्राप्त करता है, उसे न्यायकारी राजा की ओर से पारितोषिक और छात्रवृत्ति प्राप्त होती है, चोरी करके उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी को नहीं।

जो बुद्धिमान धार्मिक लोग हैं, वे उत्तम कर्म करने वाले व्यक्ति को ही दान देते हैं, चोरी करनेवाले आलसी को नहीं। न्यायकारी राजा, धार्मिक परिश्रमी मनुष्य को सहायता देता है और चोरी करने वाले को दण्ड देता है। जो मनुष्य भूमि को अच्छे प्रकार से सुधार कर उसमें ठीक समय पर बीज बोता है, ईश्वर के नियमानुसार उसी को अन्न की प्राप्ति होती है, आलसी और चोरी करने वाले को नहीं। जो आनन्द अपने परिश्रम से कमाये हुए धन के प्रयोग में आता है, वह आनन्द चोरी से कमाये हुए धन के प्रयोग में नहीं आता। चोरी करने वाला व्यक्ति चुराये हुए धन का प्रयोग करता हुआ भयभीत रहता है और जो स्वयं धन कमाकर उसका प्रयोग करता है, वह भयरहित रहता है। चोरी की वस्तुओं का प्रयोग करते–करते व्यक्ति का जीवन अत्यन्त अपवित्र हो जाता है। वह जिस किसी भी उत्तम वस्तु को देखता है तो उसे अन्याय से ले–लेने का प्रयास करता है। लाखों–करोड़ों रूपये की वस्तुएँ इकट्ठी करने पर भी उसको शांति नहीं मिलती। परन्तु चोरी का त्याग कर देनेवाला व्यक्ति अपने धन से सदा सन्तुष्ट रहता है। चोरी न करनेवाला व्यक्ति स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुखी रखता है। चोरी करनेवाला व्यक्ति सदा स्वयं दुःखी रहता है और अन्यों को भी दुःखी रखता है।

जो मनुष्य चोरी का परित्याग करके तन, मन और धन से दूसरों की सहायता करते हैं, वे ही योगाभ्यास करने में सफल होते हैं। चोरी

करने वाले मनुष्य योगाभ्यास करके ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकते। ईश्वर की प्राप्ति के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सदा अस्तेय का पालन अवश्य ही करे। अस्तेय के पालन से ही लौकिक सुख और मोक्ष सुख की उपलब्धि होती है।

अस्तेय के साधन

अस्तेय के पालन करने के लिए निम्नलिखित साधनों की अपेक्षा रहती है।

प्रथम साधन–परोपकार। परोपकार का अभिप्राय है तन, मन और धन से दूसरों की सहायता करना। जो मनुष्य दूसरों की सहायता करता है और दूसरों की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझता है तो उसकी चोरी करने की इच्छा समाप्त हो जाती है, क्योंकि चोरी और परोपकार एक–दूसरे के विरोधी कार्य हैं। जो परोपकारी है, वह चोर नहीं हो सकता और जो चोर है, वह परोपकारी नहीं हो सकता। चोरी करके अपने परिवार का पालन करना परोपकार नहीं हैं जिस से प्राणिमात्र का भला हो और किसी के साथ अन्याय न हो वह परोपकार है। परोपकार किया जाता है दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए, चोरी की जाती है स्वयं को और अपने सम्बन्धियों को सुखी करने के लिए। संसार के सभी बुद्धिमान् धार्मिक मनुष्य परोपकार को अच्छा और चोरी को बुरा कर्म मानते हैं।

दूसरा साधन–प्राणिमात्र को आत्मवत् समझना। जो मनुष्य दूसरों के हानि–लाभ, सुख–दुःख, मान–अपमान, उन्नति–अवनति को अपने हानि–लाभ आदि के तुल्य समझता है, वह चोरी का परित्याग कर देता है। जैसे अपनी वस्तुओं की चोरी होने पर व्यक्ति को दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही दूसरे की वस्तुओं की चोरी होने पर दूसरे को भी दुःख होता है, यह अनुभूति करके दूसरों की वस्तुएँ न चुराना आत्मवत् व्यवहार है। जो मनुष्य सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वह दूसरों को दुःख नहीं देना चाहता। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मवत् व्यवहार करनेवाला ही मनुष्य की कोटि में आता है। जो व्यक्ति समस्त जीवों के साथ आत्मवत्

व्यवहार नहीं करता वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। यदि प्रत्येक मनुष्य सबकी उन्नति को अपनी उन्नति और सबकी हानि को अपनी हानि समझने लग जाए तो संसार स्वर्ग बन जाए और ईश्वर प्राप्ति के योग्य मनुष्यों का निर्माण करना भी सरल हो जाए। इस सिद्धांत का परित्याग करने पर दुःख की अत्यन्त वृद्धि होती है और सुख का विनाश होता है, इसलिए अस्तेय का पालन करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति सभी प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करे।

तीसरा साधन - ईश्वर की व्यवस्था को स्वीकार करना। जो मनुष्य यह मानता है कि चोरी करना एक अशुभ कर्म है और इस अशुभ कर्म का फल 'दुःख' ईश्वर की ओर से अवश्य ही मिलेगा तो वह चोरी करना छोड़ देता है। संसार में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि अनेक योनियाँ दिखाई देती हैं। इन सब योनियों में मनुष्य जितना सुखी, स्वतन्त्र, विकास करने में समर्थ, दूसरों की सहायता करने में निपुण, ईश्वर साक्षात्कार करने की क्षमता रखता है तथा जड़ पदार्थो से लाभ ले सकता है, उतना अन्य पशु-पक्षी आदि प्राणी नहीं ले सकते। इससे पता चलता है कि परोपकारादि उत्तम कर्म करने से ईश्वर जीव को मनुष्य योनि देता है और चोरी आदि पापकर्म करनेवाले जीवों को पशु, पक्षी, कीट आदि योनि देता है।

चौथा साधन-अपनी आवश्यकताओं को न्यून करना। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता जाता है और उन आवश्यकताओं की पूर्ति अपने साधनों से न होने पर चोरी करने लग जाता है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जिनकी पूर्ति के बिना जीना और आवश्यक कार्यों को करना कठिन है। जैसे कि भोजन, पानी, वस्त्र, आवास, चिकित्सा आदि। पर कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति न होने पर भी मनुष्य की उन्नति में कोई बाधा नहीं आती, जैसे कि कोई व्यक्ति एक भवन से अपना निर्वाह कर सकता है तो उसको दो अथवा तीन भवन बनाने की आवश्यकता नहीं है। कोई व्यक्ति दो वस्त्र से ही अपना कार्य कर लेता है तो उसे आठ व दस वस्त्रों की आवश्यकता नहीं बढ़ानी

चाहिए। इसी प्रकार से कुछ हानिकारक वस्तुएँ हैं, जिनका सेवन करके व्यक्ति अपना अभ्यास बना लेता है और उनकी पूर्ति करने के लिए चोरी आदि बुरे कर्म करता है। जैसे कि शराब, धूम्रपान आदि शरीर और बुद्धि का विनाश करनेवाले मादक पदार्थों के सेवन का अभ्यास करने पुनः उनकी पूर्ति हेतु विविध प्रकार के चोरी आदि अशुभ कर्म करना। यदि अपनी आवश्यकताएँ न्यून कर दी जाएँ तो अस्तेय का पालन करना सरल हो जाए।

पाँचवाँ साधन - सत्पुरूषों की सङ्गति। जो मनुष्य सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी विद्वानों का सत्सङ्ग करता है वह सत्यवादी, परोपकारी बन जाता है और जो अधार्मिक, स्वार्थी लोगों का सङ्ग करता है वह अधार्मिक, स्वार्थी बन जाता है। जो व्यक्ति दानी मनुष्यों का सङ्ग करता है, वह दानी बन जाता है और जो चोरों का सङ्ग करता है, वह दानी बन जाता है और जो चोरों का सङ्ग करता है वह चोर बन जाता है। इसलिए जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है उसको वैसे ही मनुष्यों का सङ्ग करना चाहिए जो चोरी नहीं करते, परोपकारी हैं और दान देते हैं।

छठा साधन- ईश्वरोपासना। चोरी करनेवाला व्यक्ति अपनी लौकिक कामनाओं को पूर्ण करने के लिए चोरी करता है। ईश्वर की उपासना करने से मनुष्य की सभी उचित कामनाएँ पूर्ण होती हैं, अतः अस्तेय का पालन करने में अत्यन्त सरलता हो जाती है। ईश्वर दयालु है, सदा सब प्राणियों पर दया करता है। संसार में जितने भी पदार्थ ईश्वर ने बनाये हैं, वे सभी जीवों के लिए बनाए हैं। अपने सुख के लिए ईश्वर ने एक भी पदार्थ नहीं बनाया। जीवों के कल्याण के लिए ईश्वर ने मनुष्य को वेदों का ज्ञान दिया है। अब भी देता है, परन्तु उसके बदले में किसी से कुछ नहीं लेता। अनादि काल से ईश्वर सभी प्राणियों को ज्ञान, आनंद, बलादि देता रहा है, आज भी दे रहा है और आगे भी सदा देता रहेगा। ईश्वर का देने का स्वभाव है, किसी से अपने लिए लेने का नहीं। जो मनुष्य सदा देनेवाले की उपासना करता है, उसका देने का स्वभाव बन जाता है और चोरी करने का स्वभाव समाप्त हो जाता है।

इस लिए ईश्वरोपासना चोरी-त्याग का उत्तमोपाय है।

चौथा यम : ब्रह्मचर्य

ब्रह्म नाम ईश्वर का है, ब्रह्मनाम वेद का है और ब्रह्म नाम वीर्य का है। इन तीनों की क्रमशः प्राप्ति, अध्ययन और रक्षण करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। जो मनुष्य ईश्वर प्राप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसकी उपासना करता है व उसकी आज्ञा का पालन करता है तथा वेदों को पढ़ता है और वीर्य की रक्षा करता है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य के लाभ

ब्रह्मचर्य का प्रथम भाग ईश्वरोपासना है।

ईश्वरोपासना से प्रथम लाभ - ईश्वर भक्ति करने से चित्त की एकाग्रता होती है और मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर मनुष्य के अधिकार में आ जाते हैं। ईश्वर भक्ति के बिना मन और इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार सम्भव नहीं है। ईश्वरोपासना से जो आनन्द मिलता है उससे मनुष्य की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती है, अतः सांसारिक विषय भोग की इच्छा नहीं रहती। जो मनुष्य ईश्वरोपासना नहीं करता वह मन और इन्द्रियों के अधीन हो जाता है। जैसे-जैसे व्यक्ति इन्द्रियों के अधीन होता जाता है, वैसे-वैसे अधिक विषय-भोगों में फँसता जाता है। विषय भोगों में फँसकर व्यक्ति उन कार्यों को करने लगता है जो अपने लिए और दूसरों के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने पर कल्याण का मार्ग खुल जाता है।

दूसरा लाभ - ज्ञान की प्राप्ति और अविद्या का नाश होता है। ईश्वर सर्वज्ञ है अर्थात् सब-कुछ जानता है जो मनुष्य विधिपूर्वक ईश्वर की भक्ति करता है, उस उपासक को प्रभु ज्ञान प्रदान करता है। वास्तविक ज्ञान मिलने पर साधक की अविद्या नष्ट हो जाती है। संसार में मानव कल्याण का प्रमुख साधन ज्ञान है। सत्य ज्ञान की उपस्थिति में सत्यकर्म होते हैं, असत्य कर्म नहीं। अज्ञान के कारण ही संसार में मिथ्याचरण प्रचलित होता है। अज्ञान का विनाश ईश्वरोपासना से ही संभव है,

अन्यथा नहीं।

तीसरा लाभ - ईश्वर सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है अर्थात् सभी का समान रूप से भला चाहता है, किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, वैसे ही ईश्वर का उपासक भी सम्पूर्ण विश्व को एक दृष्टि से देखने में समर्थ होता जाता है, वह किसी देश या प्राणी के साथ पक्षपात नहीं करता। संसार में पक्षपात से अनेक अनर्थ होते हैं। कहीं देश का पक्षपात, कहीं परिवार का पक्षपात, कहीं भाषा व जाति का पक्षपात। जहाँ पर पक्षपात है वहाँ क्लेशों का वास है। इस पक्षपात के कारण भूगोल में लड़ाई-झगड़े, बड़े-बड़े युद्ध होते हैं, और उसका परिणाम महादुःख होता है। ईश्वरोपासना करनेवाला व्यक्ति ईश्वर को सभी प्राणियों का पिता समझता है और सब प्राणियों को ईश्वर का पुत्र। पिता-पुत्र का संबंध जानकर अन्य प्राणियों से आत्मवत् व्यवहार करता है, किसी के साथ पक्षपात का व्यवहार नहीं करता। पक्षपात व अन्याय का परित्याग करने और न्यायकारी बनने के लिए ईश्वर की उपासना करना आवश्यक है।

चौथा लाभ - ईश्वरोपासना से व्यक्ति निर्भीक हो जाता है, क्योंकि ईश्वर निर्भय है तो उसका उपासक भी निर्भय हो जाता है।

पाँचवा लाभ - ईश्वरोपासना से मानसिक रोगों की अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि की निवृत्ति होती है।

छठा लाभ - ईश्वरोपासक में सहन शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह बड़े-बड़े दुःखों को भी सरलता से सहन कर लेता है।

ब्रह्मचर्य का दूसरा भाग वेद का पढ़ना है।

वेदाध्ययन से प्रथम लाभ- वेद अध्ययन से मनुष्य को तीन प्रमुख पदार्थों का परिज्ञान होता है- एक ईश्वर, दूसरा जीव और तीसरी प्रकृति। इन तीन पदार्थों के ज्ञान से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान होता है। इन तीन पदार्थों के ठीक ज्ञान न होने से ही परस्पर विरूद्ध मत-मतान्तरों की उत्पत्ति होती है और विरूद्ध मतों से विविध प्रकार के दुःख उत्पन्न होते

हैं।

दूसरा लाभ – वेद का अध्ययन करने से कर्म और उपासना अर्थात् योगाभ्यास के स्वरूप का ज्ञान होता है। जब तक व्यक्ति कर्म के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानता, तब तक उससे लाभ नहीं उठा सकता। वेद में यह बतलाया है कि अमुक कर्म अच्छा है और अमुक कर्म बुरा है। इन दोनों के स्वरूप को जानकर व्यक्ति शुभकर्म करता है और अशुभ कर्म को छोड़ देता है। वेद में बतलाया है कि सत्य बोलना अच्छा कर्म है और असत्य बोलना बुरा कर्म है, दान देना अच्छा कर्म है और चोरी करना बुरा कर्म है। 'मित्रस्यचक्षुषा समीक्षामहे' हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। इस प्रकार से अच्छे ओर बुरे कर्मों को जानकर मनुष्य बुरे कर्मों को छोड़ देता है और अच्छे कर्मों को करके अपना और दूसरों का कल्याण करता है। उपासना अर्थात् भक्ति का वास्तविक स्वरूप वेद के अध्ययन से ज्ञान होता है। वेद में ईश्वर का स्वरूप बतलाया कि ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है और 'ओम्' ईश्वर का मुख्य नाम है। इस प्रकार से नामी ईश्वर और नाम ओम् इन दोनों का परिज्ञान करके पुनः ईश्वर की उपासना अर्थात् भक्ति करनी चाहिए।

तीसरा लाभ – वेद के अध्ययन से गौण और मुख्य पदार्थों का परिज्ञान होता है। मानव जीवन को सफल बनाने के लिए गौण और मुख्य पदार्थों का ज्ञान करना अनिवार्य है। जो पदार्थ अधिक लाभप्रद है वह मुख्य और जो न्यून लाभप्रद है वह गौण कहलाता है। जब व्यक्ति न्यून लाभप्रद को अधिक लाभप्रद मान लेता है और अधिक लाभप्रद को न्यून लाभप्रद मान लेता है तो विफल हो जाता है। जैसे कि इन्द्रियों के विषय भोगों में कम लाभ है और ईश्वर के आनन्द भोग में अधिक लाभ है। परन्तु इन्द्रियों के विषयों को भोगने में अधिक लाभ मान लिया जाता है और ईश्वर के आनन्द भोग में कम लाभ माना जाता है। वेद में ईश्वर को मुख्य बतलाया है और जीवों तथा प्रकृति को गौण बतलाया है, क्योंकि अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्तबलादि ईश्वर में हैं। इस

प्रकार के गुण और किसी पदार्थ में नहीं हैं, अतः ईश्वर मुख्य है अन्य सब पदार्थ गौण हैं।

चौथा लाभ – वेद के अध्ययन से मनुष्य को साध्य, साधक और साधन का परिज्ञान होता है। जिसको सब चाहते हैं और जिसकी प्राप्ति होने पर सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है, वह 'साध्य' कहलाता है। जो साध्य को प्राप्त करना चाहता है वह 'साधक' कहलाता है। जिस उपकरण के द्वारा साधक साध्य का प्राप्त करता है वह 'साधन' कहलाता है। इन तीन विषयों का परिज्ञान वेद में विद्यमान है। वेद में ईश्वर को साध्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य माना है, जीव को साधक अर्थात् साध्य को प्राप्त करनेवाला माना है, प्रकृति को साधन अर्थात् प्राप्त करने का उपकरण माना है। यदि समस्त संसार के लोग इन तीन पदार्थों को जानलें तो विश्व का कल्याण हो जाए। प्रत्येक व्यक्ति जो भी कार्य करता है, ये तीनों शुद्ध भी होते हैं और अशुद्ध भी होते हैं। इनका निर्वाचन करनेवाला व्यक्ति इन तीनों के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है तो निर्वाचन भी ठीक करता है और यदि वह इनके स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानता तो अशुद्ध निर्वाचन कर लेता है।

मनुष्य का वास्तविक साध्य वही हो सकता है जिसे प्राप्त करने पर समस्त दुःखों की परिसमाप्ति और नित्यानन्द की प्राप्ति हो। वेद में वास्तविक साध्य का निर्देश किया है "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (यजु. 31/18) उस ईश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्यु आदि सभी दुःखों से छूटता है, इसके अतिरिक्त और कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है।

पाँचवाँ लाभ – वेद के अध्ययन से व्यक्ति शुद्ध कर्म और शुद्धोपासना के स्वरूप को जानकर अपने जीवन को विशुद्ध बनाने में समर्थ होता है और अपने जीवन का निर्माण करके पुनः उत्तम परिवार का निर्माण करता है। उत्तम परिवार के निर्माण से उत्तम समाज का निर्माण होता है और उत्तम समाज से उत्तम विश्व का निर्माण होता है। इस प्रकार से वेदों के अध्ययन से मानव की सभी समस्याओं का समाधान

होता है।

ब्रह्मचर्य का तीसरा भाग वीर्य की रक्षा है

आयुर्वेद के अनुसार शरीर की सात धातुओं में से वीर्य एक धातु है। वीर्य की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। वीर्य की रक्षा करने से मनुष्य को शारीरिक और बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है। शारीरिक बल से व्यक्ति अपनी भी रक्षा करता है और दूसरों की भी। बिना शारीरिक बल के न अपनी रक्षा हो सकती है और न दूसरों की। वेद में ब्रह्मचर्य के विषय में बतलाया है कि 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। जो राजा ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते वे न तो अपनी रक्षा कर सकते हैं और न राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं। शारीरिक बल से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। मनुष्य के शरीर में जितना अधिक बल होगा, उतनी ही अधिक उसकी आयु होगी। प्रायः मनुष्य लम्बे काल तक जीना चाहता है। यह कामना ब्रह्मचर्य के पालन से ही पूर्ण हो सकती है। आयु के बढ़ाने के अनेक साधन हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य विशेष साधन है। शारीरिक शक्ति से लौकिक कार्यों के करने में सुविधा होती है। संसार में यह प्रत्यक्ष है कि जस मनुष्य में शारीरिक बल अधिक होता है, वह अपने शारीरिक कार्यों को बिना कठिनाई के कर लेता है, निर्बल व्यक्ति वैसा नहीं कर पाता। शारीरिक बल के कारण मनुष्य सदा स्वस्थ रहता है और बल का अभाव होने पर रोगी हो जाता है। मनुष्य जीवन के चार प्रयोजन हैं, अर्थात् मनुष्य-शरीर से चार कार्यों का सम्पादन करना चाहिए- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चारों प्रयोजन स्वस्थ शरीर से हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। शारीरिक बल के आधार पर ही मनुष्य लौकिक सुख को भोगने में समर्थ होता है, बलहीन नहीं।

जैसे-जैसे शरीर में बल बढ़ता जाता है वैसे-वैसे स्मरण शक्ति भी बढ़ती जाती है और बल के अभाव में स्मरण शक्ति समाप्त हो जाती है। जब व्यक्ति रोगी हो जाता है तो उसके शरीर में बल न्यून हो जाता है और बल न्यून होने के कारण स्मरण-शक्ति न्यून हो जाती

है। इससे यह सिद्ध होता है कि बल स्मरण-शक्ति को बढ़ाता है। शारीरिक बल से मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है जिससे वह सूक्ष्म विषयों को भी शीघ्र ग्रहण कर लेता है। बुद्धि का विकास होने पर मनुष्य भौतिक विज्ञान में विशेष प्रगति करता है और ईश्वर साक्षात्कार करने में भी सफल होता है। इसलिए शारीरिक बल व बौद्धिक बल बढ़ाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के साधन

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए साधनों का परिज्ञान आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के अनेक साधन हैं। उनमें से कुछ साधनों को यहां उपस्थित किया जाता है।

प्रथम साधन भोजन - भोजन का प्रभाव शरीर और मन इन दोनों पर पड़ता है, यदि मनुष्य सात्त्विक भोजन खाता है तो ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में सरलता होती है, और राजसिक व तामसिक भोजन खाता है तो ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन होता है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भोजन के विषय में जानने लिए ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। जिस भोजन के खाने से शरीर में उत्तेजना उत्पन्न होती है और विषय-भोग की ओर आकर्षण उत्पन्न होता है, वह भोजन ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक होता है जैसे कि शराब, गांजा, भांग, चरस, धूम्रपान आदि। जो भोजन शरीर में शांति उत्पन्न करते हैं और विषय भोग से हटाकर ईश्वर-भक्ति की ओर ले जाते हैं, बुद्धि का विकास करते हैं वे ब्रह्मचर्य के लिए लाभप्रद होते हैं। जैसे कि चावल, जौ, गौ का दूध ा-घी आदि। ब्रह्मचर्य के लिए हितकारी भोजन भी उचित मात्रा में ही खाना चाहिए। अधिक मात्रा में खाने से और अति उष्ण भोजन खाने से ब्रह्मचर्य की रक्षा कठिन है।

दूसरा साधन शारीरिक व्यायाम - ब्रह्मचर्य की रक्षा और वृद्धि शारीरिक व्यायाम से होती है। शरीर में जो वीर्य उत्पन्न होता है वह व्यायाम करने से शरीर का अङ्ग बन जाता है। बिना व्यायाम के ब्रह्मचर्य

की रक्षा करना कठिन है। व्यायाम का अभिप्राय है शरीर के विकास के लिए की गई अनेक प्रकार की विधिपूर्वक क्रियाएँ। व्यायाम को बुद्धिपूर्वक, अपने शारीरिक बल के अनुसार और भोजन तथा ऋतु के अनुसार करना चाहिए। उचित व्यायाम से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है और बुद्धि की वृद्धि भी होती है।

तीसरा साधन उत्तम विचार – मनुष्य के जीवन–निर्माण में उत्तम विचार बहुत बड़ा साधन हैं यदि मनुष्य अपने विचारों को शुद्ध बना लेता है तो ब्रह्मचर्य के पालन करने में अत्यन्त सरलता हो जाती है। अच्छे विचारों का अच्छा प्रभाव और बुरे विचारों का बुरा प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर सतत् पड़ता रहता है। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य–रक्षा के अनुकूल विचार करता है, उसके ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। ब्रह्मचर्य के पालन से आनन्द की प्राप्ति होती है, शरीर बलवान होता है, बुद्धि बढ़ती है, आयु दीर्घ होती है। इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है, इस प्रकार के विचारों को बार–बार मन में रखने से ब्रह्मचर्य के पालन में महती सहायता मिलती है। अशुभ विचारों से ब्रह्मचर्य का नाश होता है।

चौथा साधन ईश्वर भक्ति – ईश्वर भक्ति का अभिप्राय है–ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना। जब मनुष्य ईश्वर की भक्ति करता है तो इन्द्रियों के विषय भोगों में रुचि नहीं रहती। विषय भोगों की रुचि ब्रह्मचर्य पालन में अत्यन्त बाधक है। मनुष्य मुख्य रूप से दो प्रकार से सुख की प्राप्ति करता है। एक तो पाँच इन्द्रियों के द्वारा पाँच विषयों के सुख का अनुभव करता है और दूसरा ईश्वर की उपासना द्वारा नित्यानन्द को प्राप्त करता है। जब ईश्वर–भक्ति की उपासना द्वारा नित्यानन्द को प्राप्त करता है। जब ईश्वर–भक्ति से मनुष्य को नित्यानन्द की प्राप्ति होती है तो इन्द्रियों के भोगों में दुःख प्रतीत होता है। इसी कारण ईश्वर भक्ति से वीर्य की रक्षा होती है। बिना ईश्वर की भक्ति के इन्द्रियों को पूर्णरूपेण वश में करना सम्भव नहीं है।

पाँचवाँ साधन उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन – उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन से ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता मिलती है। जो ऋषियों के लिखे

ग्रन्थ है और जिनमें ब्रह्मचर्य का वर्णन है उनके अध्ययन करने से व्यक्ति के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और उसके विचार ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले महापुरूषों जैसे बन जाते हैं। ब्रह्मचर्य सभी आश्रमों में उपयोगी है, अतः यथाशक्ति सबको ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

पाँचवाँ यम : अपरिग्रह

जो पदार्थ और विचार हानिकारक हैं अथवा अनावश्यक है उन्हें सब प्रकार से इकट्ठा करना परिग्रह और उन्हें छोड़ देना 'अपरिग्रह' कहलाता है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि जो-जो पदार्थ और विचार ईश्वर की प्राप्ति में बाधक हैं उन्हें इकट्ठा करना 'परिग्रह' और जो ईश्वर प्राप्ति में साधक हैं, उनका ग्रहण करना 'अपरिग्रह' है।

अपरिग्रह का फल

जब मनुष्य मन, वाणी और शरीर से पूर्णरूपेण अपरिग्रह का पालन करता है तब, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा औश्र कहाँ पर किस रूप में रहूँगा इन विषयों का विचार करता है। जो मनुष्य अपरिग्रह का पालन नहीं करता वह आत्मा के विषय में यह विचार नहीं कर सकता कि मैं कौन हूँ अर्थात् मैं शरीर हूँ या शरीर से पृथक चेतन आत्मा हूँ। इस शरीर के उत्पन्न होने से पूर्व में किस रूप में था, कहाँ पर था तथा इस शरीर के समाप्त होने के पश्चात् मैं किस रूप में था, कहाँ पर था तथा इस शरीर के समाप्त होने के पश्चात् मैं किस रूप में रहूँगा। जो व्यक्ति सदा सांसारिक हानिकारक वस्तुओं और विचारों के संग्रह में आसक्त रहता है, वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। विषय-भोगों में फँसा हुआ मनुष्य अपनी हानि और लाभ को नहीं जान सकता। अपरिग्रह का पालन करनेवाला मनुष्य अपने विषय में जिज्ञासा उत्पन्न करके अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है। जो व्यक्ति अपने स्वरूप को नहीं जानता, वह अपने हित और अहित को भी नहीं जान सकता। वह केवल इस पाँच भूतों से बने शरीर को ही

आत्मा मानता है और इसी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जीवन पर्यन्त परिश्रम करता रहता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि अपने स्वरूप को जानने से ही अपने हित और अहित को जाना जा सकता है और जिन जड़ पदार्थों से बने साधनों से जीव कार्य करता है, उन साधनों पर अपना अधिकार कर लेता है अर्थात् मन और इन्द्रियों पर अपना अधिकार कर लेता है, अन्यथा मन व इन्द्रियों के अधीन होकर अपने और दूसरों के लिए हानिकारक सिद्ध होता रहता है।

आत्मा का ज्ञान होने से ईश्वर साक्षात्कार

जब मनुष्य अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से जान लेता है तब ईश्वर–साक्षात्कार में भी सफल हो जाता है। प्रथम मनुष्य को स्थूल वस्तुओं का ज्ञान होता है, उसके पश्चात् सूक्ष्म वस्तुओं का। पहले मनुष्य को शरीर आदि स्थूल पदार्थों का ज्ञान होता है फिर मन आदि भौतिक सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान होता है, इसके पश्चात् अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। अपने स्वरूप को ठीक–ठीक जान लेने पर ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से मनुष्य ईश्वर प्राप्ति में सफल नहीं होता। अपरिग्रह का पालन करनेवाला व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को कम कर देता है। उसे सांसारिक वस्तुओं के संग्रह में बहुत अधिक समय, बल, धन, बुद्धि का व्यय नहीं करना पड़ता। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को न्यून कर लेता है वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए दूसरे प्राणियों को कष्ट नहीं पहुँचाता। जो लोग अपरिग्रह का पालन नहीं करते, वे अनावश्यक वस्तुओं को इकट्ठा करते रहते हैं और अन्य प्राणियों को विविध प्रकार का दुःख देते रहते हैं। यदि संसार में सभी लोग अपरिग्रह का पालन करने लग जाएँ तो उनके दुःखों की निवृत्ति और सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

हानिकारक और अनावश्यक विचारों के त्याग से

मनुष्य की उन्नति

जैसे हानिकारक और अनावश्यक वस्तुओं के छोड़ देने से मनुष्य की उन्नति होती है, वैसे ही हानिकारक और अनावश्यक विचारों के परित्याग से भी मनुष्य की उन्नति होती है। अशुद्ध विचार मनुष्य के ज्ञान के विकास में बाधक होते हैं। जब तक व्यक्ति के मन में अशुद्ध विचार बने रहते हैं तब तक वास्तविक ज्ञान का विकास नहीं होता। जब मनुष्य अशुद्ध विचारों को छोड़कर शुद्ध विचारों को मन में स्थान दे देता है तब वह बुद्धिमान् बन जाता है। मानसिक दुःख अशुद्ध विचारों से उत्पन्न होता है। अशुद्ध मानसिक विचार अनेक चिन्ताओं को जन्म देते हैं। चिन्ताओं के कारण मनुष्य सदा दुःखी रहता है। समस्त चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए मलिन विचारों का परित्याग करना आवश्यक है। सुविचार मुक्ति का कारण है और कुविचार बन्धन का, अतः हानिकारक विचारों का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपरिग्रह पालन के साधन

यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह जिस वस्तु में दोष देखता है, उसका परित्याग कर देता है। परिग्रह में निम्न लिखित दोष देखने से परिग्रह का त्याग हो जाता है, फलतः अपरिग्रह का पालन होने लगता है।

पहला अर्जन दोष – सांसारिक भोगों को भोगने के लिए अत्यधिक, धन, सम्पत्ति और समय की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य तन, मन, धन से पूर्ण प्रयास करता है। लम्बे काल तक प्रयत्न करने पर उसे भोग के कुछ साधन उपलब्ध होते हैं। एक व्यक्ति बहुत उत्तम भवन का निर्माण करता है और उसमें यथाशक्ति साधनों को इकट्ठा करके सांसारिक सुख भोगना चाहता है, इस भोग की प्राप्ति के लिए बीस वर्ष तक महान् परिश्रम करता है। इन साधनों के उपार्जन में बीस वर्ष का काल लग जाता है और शारीरिक तथा बौद्धिक परिश्रम भी करना पड़ता है। जब इस कार्य को सम्पन्न करता है तो अनेक प्रकार के बाधक उपस्थित हो जाते हैं। उन बाधकों को हटाने में बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं। जिन कार्यों को व्यक्ति अच्छा नहीं समझता

उन्हें भी करना पड़ता है। इस प्रकार से बीस वर्षों के घोर परिश्रम से कुछ सुख, जो कि दुःख से परिपूर्ण है, ताकि उपलब्धि होती है। बुद्धिमान् मनुष्य जब देखता है कि इतने परिश्रम का यही फल है तो लौकिक सुख और सुख के साधनों में अरूचि उत्पन्न हो जाती है।

दूसरा रक्षण दोष - जब मनुष्य बीस वर्ष लगाकर जिस किसी प्रकार से सुख साधनों को इकट्ठा कर लेता है और उनसे सुख लेना चाहता है तो एक और समस्या सामने आती है। सुख साधनों को सुरक्षित रखना भी अनिवार्य हो जाता है। यदि मनुष्य सुख के साधनों को इकट्ठा तो करले परन्तु उनकी रक्षा न कर सके तो वे साधन सुरक्षित नहीं रह सकते। उनके सुरक्षित रहे बिना प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं हो सकती। तो फिर व्यक्ति सोचता है कि उन्हें इकट्ठा ही क्यों किया जाए जब उनकी इतनी अधिक रक्षा करनी पड़ती है।

उदाहरण - कोई व्यक्ति बीस वर्ष पर्यन्त परिश्रम करके एक उत्तम भवन बनाता है, उसमें अन्य सुख-साधनों को भी उपस्थित करता है। अब यदि देश का राजा कहता है कि इस स्थान से सभी भवनों को हटाओ। इन्हें तोड़-फोड़कर यहाँ पर अमुक कार्य किया जाएगा। राजा के आदेश को वह व्यक्ति रोकने में समर्थ नहीं है, अतः अपने सुख के साधनों की रक्षा नहीं कर सकता, तब उसे बहुत ही दुःख होता है। यदि राजा की ओर से ऐसी अवस्था न भी आये तो किसी अन्य कारण से साधनों की रक्षा नहीं कर पाता। यदि भवन का स्वामी भवन को किराये पर देकर, उससे धनोपार्जन करके, उस धन से लौकिक भोगों को भोगना चाहता है तो यह समस्या भी उपस्थित होती है कि किरायेदार न तो किराया देता है और न भवन को छोड़ता है, वह किरायेदार उस भवन का स्वामी बन जाता है। इस प्रकार रक्षण-दोष को देखकर व्यक्ति भोग-साधनों के परिग्रह की प्रवृत्ति बंद कर देता है।

तीसरा क्षय दोष - यह बात प्रसिद्ध है कि संसार में जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश अवश्य होता है। लौकिक सुख चाहनेवाला व्यक्ति यह चाहता है कि जो साधन मैंने इकट्ठे किये है वे सदा ज्यों-के-त्यों

बने रहें, कभी नष्ट न हों, परन्तु उत्पन्न हुए पदार्थों को नष्ट होने से रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं कभी भी न मरूँ तो उसकी यह इच्छा कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। एक मनुष्य लाखों-करोड़ों रूपये और सम्पत्ति कमाता है और यह समझता है कि यह सब कुछ मेरे साथ बना रहेगा, मैं सदा इसका उपभोग करता रहूँगा। परन्तु एक समय आता है जब प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाती है। इस प्रकार भौतिक सुख देनेवाली प्रत्येक वस्तु नष्ट होती दिखाई देती है तो बुद्धिमान् मनुष्य इस दोष को देखकर सांसारिक सुख भोगने की अभिलाषा को छोड़ देता है। इससे अपरिग्रह का पालन होता है।

चौथा संग दोष - सांसारिक विषयों को भोगते भोगते व्यक्ति उन विषयों में फँस जाता है। जब विषय भोग करते-करते व्यक्ति उनमें बँध जाता है तो वह अपनी हानि और लाभ को भी नहीं जान सकता। जो हानिकारक वस्तु है, उसे भी वह लाभप्रद समझने लगता है। जैसे कि शराब पीनेवाला व्यक्ति शराब को पीते-पीते उसका दास बन जाता है और शराब पी-पीकर अपने धन और सम्पत्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। विषय-भोग करते-करते व्यक्ति ऐसी अवस्था में चला जाता है कि वह इन विषय भोगों को छोड़ना भी चाहे तो भी नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार से विषय भोगों में बन्धन को देखकर व्यक्ति उनका परित्याग कर देता है।

पाँचवाँ हिंसा दोष - हिंसा का अर्थ है बिना अपराध के प्राणियों को दुःख पहुँचाना और उनसे वैरभाव रखना। अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए व्यक्ति निर्दोष प्राणियों को मारता है। उन्हें विविध प्रकार की पीड़ा देता है। जब मनुष्य अपने विषय-भोगों की पूर्ति के लिए अनेक निर्दोष प्राणियों को दुःखी होते हुए देखता है तो उस व्यक्ति की विषय भोग की इच्छा समाप्त हो जाती है।

छठा दोष-ईश्वर के बनाए हुए पदार्थों का स्वयं स्वामी बनना - सांसारिक सुख का अभिलाषी मनुष्य अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं से अधिक साधनों को इकट्ठा करता है और उन साधनों का स्वयं स्वामी

बन जाता है। स्वामी बनने के पश्चात् वह किस को कुछ भी नहीं देना चाहता, अपितु अन्याय से दूसरों के धन का भी स्वामी बनना चाहता है। उस व्यक्ति को एक लाख रूपये की आवश्यकता है, परन्तु वह बीस लाख रूपये रखता है। जितना-जितना उसका सामर्थ्य बढ़ता जाता है, उतना-उतना अधिक धन इकट्ठा करता जाता है और जो लोग साधनहीन है उनसे अनुचित लाभ उठाता है। इस स्थिति को देखकर विचारशील मनुष्य यह मानता है कि ये सभी पदार्थ ईश्वर ने सभी प्राणियों के लिए बनाये हैं और मैं इनका स्वामी बनकर अपनी एषणा को पूर्ण करने के लिए अनेक प्राणियों को दुःख पहुँचा रहा हूँ, अतः ईश्वर की ओर से इस दोष का दण्ड मुझे मिलेगा, ऐसा मानकर विषय-भोगों को छोड़ देता है।

सातवाँ दोष-विषय भोगों में फँसकर ईश्वरोपासना को छोड़ देना - जब व्यक्ति इस बात पर विचार करता है अथवा वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों को पढ़ता है तो उसे यह बात समझ में आती है कि ईश्वर में दुःखरहित नित्यानन्द है और मैं विषय-भोगों में लगा हुआ हूँ। इस प्रकार विचारने से मनुष्य विषय-भोगों के कारण स्वयं को ईश्वरानन्द से वंचित देखता है तो विषय-भोगों का परित्याग करके ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार से अपरिग्रह के साधनों का स्वरूप समझकर अपरिग्रह का पालन करना चाहिए।

योग का दूसरा अङ्ग-नियम

नियम के पाँच विभाग हैं- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

प्रथम नियम : शौच

शौच का अर्थ है शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की है- एक बाहर की और दूसरी अन्दर की। बाहर की शुद्धि अर्थात् शरीर, वस्त्र, स्थान, भोजन, धनोपार्जन आदि की शुद्धि तथा अन्दर की शुद्धि अर्थात्, मन, बुद्धि आदि की शुद्धि। जब मनुष्य बाहर और भीतर की अच्छी प्रकार शुद्धि करता है तो उसे अनेक प्रकार के गुणों की प्राप्ति होती है।

शौच के लाभ

पहला लाभ – जब मनुष्य अपने शरीर को बार–बार शुद्ध करता है और फिर भी शरीर में अशुद्धि दिखाई देती है तो अपने शरीर को अशुद्ध देखने से उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। अपने शरीर की अशुद्धि को देखकर दूसरों के शरीर की अशुद्धि का भी पता लगता है और उनके शरीर को भी अशुद्ध देखकर व्यक्ति उनके शरीर का स्पर्श नहीं करना चाहता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो मनुष्य का शरीर अत्यन्त अशुद्ध है। इस अशुद्ध शरीर को व्यक्ति अज्ञानता के कारण शुद्ध समझता है और इसमें आसक्त होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जाता है। अपने शरीर को बाहर से सुन्दर देखकर उसमें मोहित हो जाता है और अपने सौन्दर्य का अभिमान करता है कि मैं बहुत सुन्दर हूँ। इसी प्रकार दूसरों के शरीरों को बाहर से सुन्दर देखकर उनमें आसक्त हो जाता है और यह समझता है कि इन सुन्दर शरीरों के स्पर्श से मुझे पूर्णानन्द की प्राप्ति होगी तथा मेरे समस्त दु:खों का विनाश हो जाएगा। परन्तु शरीर को सूक्ष्मता से देखने से पता चलता है कि यह शरीर नीचे से लेकर ऊपर तक मल–मूत्र से भरा हुआ है और इसे नितान्त शुद्ध कर सकता असम्भव है। इस प्रकार की भावना करने से अपने और अन्यों के शरीरों से आसक्ति हट जाती है और ईश्वरोपासना में रुचि बढ़ जाती है।

दूसरा लाभ – शौच से बुद्धि की शुद्धि होती है। बुद्धि के शुद्ध होने पर व्यक्ति शुभ–अशुभ, हानि–लाभ और सत्यासत्य के सूक्ष्म स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है। बुद्धि एक ऐसा अन्त:करण है जिसके शुद्ध होने पर मनुष्य महान् बन जाता है। जिस मनुष्य की बुद्धि शुद्ध है उसका जीवन भी शुद्ध है और जिस मनुष्य की बुद्धि अशुद्ध है उसका जीवन भी अशुद्ध है। कहा गया है कि ''बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'' जिस मनुष्य की उत्तम बुद्धि है वही बल आदि पदार्थों का उचित प्रयोग करके अपना व अन्यों का कल्याण कर सकता है। अशुद्ध बुद्धिवाला नहीं।

तीसरा लाभ – शौच से मन प्रसन्न होता है और प्रसन्न मन

शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। मन के एकाग्र होने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है और अपनी आत्मा को जानने की योग्यता आ जाती है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य यथाशक्ति बाहर और भीतर की शुद्धि करे और करवाए।

दूसरा नियम : संतोष

संतोष का अर्थ है अपने सामर्थ्य के अनुसार परिश्रम करना और उससे जो कुछ मिले उसी में प्रसन्न रहना। सभी कार्यों को छोड़ देना संतोष नहीं कहलाता। संतोष का अर्थ यह भी नहीं है कि मनुष्य अपनी और दूसरों की उन्नति करने का पर्याप्त सामर्थ्य रखते हुए भी न तो अपनी उन्नति के लिए विशेष प्रयास करे और न दूसरों को उन्नति करने में सहयोग दे, केवल अपने कार्य सिद्ध करने के लिए कुछ कार्य कर ले। वस्तुतः अपने अन्दर जितनी शक्ति हो उतना परिश्रम करना और परिश्रम करने के पश्चात् जो कुछ भी मिल जाए उसी में प्रसन्न रहना 'सन्तोष' है। जैसे एक व्यक्ति ने अपनी भूमि को हल आदि साधनों के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध किया और पुनः उसमें बीज बो दिया। वर्षा के न्यून होने से अल्प अन्न की उपलब्धि हुई। ऐसी अवस्था में व्यक्ति दुःखी हो जाए तो संतोष भंग हो जाता है। एक विद्यार्थी खूब परिश्रम करता है और परीक्षा देने पर उसकी इच्छा से न्यून अंक आते हैं तो वह दुःखी होता है और कोई-कोई विद्यार्थी तो पढ़ना ही छोड़ देता है। यही संतोष का भंग कहलाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का कर्त्तव्य यह बनता है कि वह यह विचार करे कि मेरे इस कार्य में कहीं कोई दोष रह गया है। इसलिए अब इस कार्य की सिद्धि के लिए अधिक परिश्रम किया जाए और किसी प्रकार का दोष न आये। मनुष्य अल्पज्ञ है और अल्पशक्तिमान् है, अतः उसके कार्य में कोई न कोई त्रुटि रह जाती है अथवा उसके कार्य में कोई बाधक बाहर से आ जाता है। इसी कारण से कार्य सम्पन्न नहीं होता। जब अपने किये गये कार्य में न्यून फल प्रतीत हो तब भी उसमें संतोष करना ही मनुष्य का धर्म है, दुःखी होना नहीं। कार्य की सफलता और विफलता होती ही रहती है। यदि मनुष्य

अपने कार्य के सफल न होने पर दुःखी होता रहे तो सदा दुःख की वृद्धि होती जायेगी और मन में निराशा उत्पन्न होगी, इसलिए संतोष का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

संतोष के साधन

संतोष की सिद्धि करने के लिए साधनों का परिज्ञान अनिवार्य है।

पहला साधन- ईश्वर के न्याय में विश्वास करना। मनुष्य इस बात को अच्छी प्रकार से समझ ले कि मैं जो कुछ अच्छे या बुरे कर्म करूँगा, उन कर्मों का फल ईश्वर की ओर से अवश्य मिलेगा, यदि किसी कर्म का फल इस जन्म में नहीं मिला तो अगले जन्म में अवश्य मिलेगा। संसार में मनुष्य, पशु, कीट आदि भिन्न-भिन्न योनियों को देखकर यह निश्चय होता है कि ये योनियाँ जीवों के कर्मों के फल ही हैं, क्योंकि जितना सुख, स्वतन्त्रता और उन्नति के साधन मनुष्य शरीर में हैं उतने साधन, स्वतन्त्रता और सुख पशु-पक्षी आदि योनियों में नहीं हैं। इसलिए ईश्वर को न्यायकारी मानकर सन्तोष का पालन करना चाहिए।

दूसरा साधन - दूसरा साधन है सांसारिक सुखों को क्षणिक मानना और उन सुखों में दुःख को मिश्रित देखना। संसार के पाँच इन्द्रियों के भोगों में जो सुख प्रतीत होता है, वह क्षणिक है स्थायी नहीं। क्षणिक-सुख मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य यह चाहता है कि मेरा सुख लम्बे काल तक बना रहे नष्ट न हो, परन्तु यह उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती अतः सांसारिक सुखों को दोष से युक्त देखता है तो उसकी भोगों की इच्छा समाप्त हो जाती है। भोगों की इच्छा समाप्त होने से संतोष का पालन सरलता से होता है।

तीसरा साधन - ईश्वर-प्राप्ति का निश्चय। जो मनुष्य यह जान लेता है कि संतोष के पालन करने से मुझे ईश्वर का साक्षात्कार होगा और उससे नित्यानन्द मिलेगा तो वह भोगों का त्याग कर देता है। एक बड़े सुख की प्राप्ति के लिए छोटे सुख को छोड़ने में कोई भी कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार उपायों को जानकर प्रत्येक मनुष्य को संतोष का

पालन करना चाहिए। बिना संतोष के शांति नहीं हो सकती।

तीसरा नियम : तप

उत्तम कार्यों को करने में जो बाधाएँ होती हैं, उन बाधाओं को प्रसन्नतापूर्वक सहते हुए उत्तम कार्यों को करना तप है। अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि उत्तम कार्यों के करने में जो सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आदि उपस्थित होते हैं, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हुए अपने जीवन के लक्ष्य को सिद्ध करना 'तप' है। जैसे कि सदा सत्य बोलना, विद्या पढ़ना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, परोपकार करना आदि। इनके करने में जो भी कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें सहते हुए इन्हें न छोड़ना 'तप' है।

तप का फल

तप करने से शरीर की शुद्धि होती है और शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। जो लोग तप नहीं करते उन्हें यह शारीरिक लाभ प्राप्त नहीं होता। शरीर में मल की सतत् उत्पत्ति होती रहती है। जब मनुष्य शरीर से तप करता है तो शरीर का मल बाहर निकल जाता है। जैसे कि व्यायाम करने से शरीर का मल शरीर से बाहर निकल जाता है। जो मनुष्य व्यायाम नहीं करते उनके शरीर का मल उतनी मात्रा में बाहर नहीं निकलता। इसी कारण उनका शरीर शीघ्र ही रोगी हो जाता है। जो मनुष्य शीत को सहने का अभ्यास नहीं करता, वह शीत देश में जाते ही रोगी हो जाता है और जो उष्णता के सहने का अभ्यास नहीं करता वह उष्ण देश में जाने से रोगी हो जाता है। जो मनुष्य भूख को सहने का अभ्यास नहीं करता, वह लम्बे काल तक भूख को सहन नहीं कर सकता, वह शीघ्र ही किसी की वस्तु को चुराकर खा लेता है, परन्तु जो मनुष्य भूख को सहन करने का अभ्यास कर लेता है वह भूखा रहने पर भी किसी वस्तु को चुराकर नहीं खाता। तप करनेवाले मनुष्य की आयु दीर्घ होती है और तप न करनेवाले की आयु अल्प होती है। तप का अभिप्राय यह नहीं है कि शरीर को गला देना या सुखा देना। जितना

सहन करने से शरीर स्वस्थ रहे, रोगी न हो, उतना ही सहन करना 'तप' है। उचित मात्रा में तप करने से मनुष्य का शरीर कठोर बन जाता है, जो बहुत बड़ी चोट को भी सहन कर सकता है, परन्तु तप न करनेवाले व्यक्ति का शरीर थोड़ी-सी चोट लगने पर शक्तिहीन हो जाता है।

तप से इन्द्रियों, मन और आत्मा की शुद्धि

तप से इन्द्रियाँ, मन और आत्मा शुद्ध होते हैं। मनुष्य का मन और इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट रहते हैं। तपस्वी मनुष्य मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोक कर उन्हें सन्मार्ग पर चलाता है, परन्तु तपस्यारहित व्यक्ति मन और इन्द्रियों को रोकने में असमर्थ रहता है। जैसे कि एक व्यक्ति रसना के वश में आकर अपनी आवश्यकता से अधिक भोजन खा जाता है और रोगी हो जाता है, परन्तु जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों को जीतने में परिश्रम किया है, वह जितनी शरीर को आवश्यकता होती है, उतना ही खाता है और स्वस्थ रहता है। जो मनुष्य मान-अपमान को बार-बार सहन करता रहता है, वह किसी के द्वारा अपमानित होने पर दुःख का अनुभव नहीं करता और मान-अपमान को न सहनेवाला व्यक्ति बहुत दुःखी होता है तथा निराश होकर उत्तम कार्यों को करना छोड़ देता है। तपस्वी व्यक्ति बार-बार कठिनाइयों को सहन करता, अतः भयरहित रहता है और जो व्यक्ति कठिनाइयों को सहन करता, अतः भयरहित रहता है और जो व्यक्ति कठिनाइयों को सहन नहीं करता, वह सदा भयभीत रहता है। वह सोचता है कि मुझ पर कोई कठिनाई न आ जाए। इस प्रकार तपस्या करने से सांसारिक कार्यों को भी सिद्ध किया जाता है और योग को भी। योगदर्शन के भाष्य में श्री व्यास जी ने तप के विषय में लिखा है कि 'नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति' (योग. 2/1 सूत्र के भाष्य में) अतपस्वी व्यक्ति का योग सिद्ध नहीं होता। इसलिए जो तप शरीर को और मन को हानि न पहुँचाये उसको श्रद्धापूर्वक करना चाहिए।

चौथा नियम : स्वाध्याय

मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन तथा 'ओथम्' आदि पवित्र करनेवाले नामों का अर्थसहित जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है। जिन शास्त्रों में मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष के साधन, मोक्ष का फल और मोक्ष के बाधकों का वर्णन ठीक प्रकार से किया हो उनका पठन-पाठन करना आवश्यक है और जो ग्रन्थ मोक्ष के स्वरूप को अशुद्ध रूप में बतलाते हों अथवा बतलाते ही न हों, उनका परित्याग कर देना चाहिए। ओथम् अथवा जिन मन्त्रों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना की गई हो, उनका विधिपूर्वक अर्थ सहित जप करना चाहिए। केवल मंत्र का पाठ करने से विशेष लाभ नहीं होता। जप करते समय तीन कार्यों को करना आवश्यक है, एक जप वाक्य या मंत्र का पाठ करना, दूसरा जप वाक्य के अर्थ का विचार करना और तीसरा ईश्वर समर्पित रहना। इन तीन कार्यों को करते समय किसी अन्य विषय को मध्य में न उठाना 'जप' कहलाता है। इसलिए मोक्षशास्त्रों का पठन-पाठन करना और ओथम् तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का जिस मंत्र में वर्णन हो, उसका अर्थ सहित जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

स्वाध्याय के लाभ

प्रथम लाभ - मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन करने से मोक्ष के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है। बिना मोक्ष शास्त्र के अध्ययन किये मोक्ष के स्वरूप का ठीक प्रकार से परिज्ञान नहीं होता। संसार में सभी मनुष्य मोक्ष चाहते हैं, परन्तु मोक्ष के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानते अतः लम्बे कालपर्यन्त परिश्रम करने पर भी उन्हें सफलता नहीं मिलती। जैसे मोक्षशास्त्रों के पढ़े बिना मोक्ष का स्वरूप समझ में नहीं आता वैसे ही मोक्ष का साधन भी समझ में नहीं आता कि मोक्षमार्ग में क्या-क्या बाधाएँ हैं और उन्हें दूर करने के उपाय क्या हैं। इन सब बातों के परिज्ञान के लिए मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए।

दूसरा लाभ - स्वाध्याय करने से अर्थात् ओथम् और मंत्रों का

जप करने से चित्त की एकाग्रता होती है। जो मनुष्य विधिपूर्वक अर्थसहित ओथम् का अथवा अन्य मंत्रों का जप करता है तो वह अपने मन को वश में करने में सफल हो जाता है। मन के ऊपर अधिकार होने पर मन को अशुभ कर्मों से हटाने में और शुभकर्मों में लगाने का सामर्थ्य आ जाता है।

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (योगदर्शन 2/44)

स्वाध्याय करने से मनुष्य का सम्बन्ध इष्टदेवता-ईश्वर से जुड़ जाता है। ईश्वर के साथ संबंध होने से जीव को वास्तविक ज्ञान और आनन्द की उपलब्धि तथा दोषों का निवारण होता है। इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि मोक्षशास्त्र कौन से है? इसका उत्तर यह है कि चार वेद और जो वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थ हैं वे मोक्षशास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त जो ग्रन्थ ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को ठीक प्रकार से बताते हैं, वे भी मोक्षशास्त्र हैं।

स्वाध्याय के साधन

स्वाध्याय के साधनों में प्रथम साधन भाषा का ज्ञान है। जो व्यक्ति मोक्षशास्त्रों की भाषा नहीं जानता वह मोक्षशास्त्रों का स्वाध्याय नहीं कर सकता। इसलिए स्वाध्याय की सिद्धि के लिए भाषा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यक्ति वेदों को और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों को पढ़ना चाहता है उसे संस्कृत भाषा का अध्ययन अवश्य ही करना होगा अथवा संस्कृत भाषा का अनुवाद पढ़ने के लिए किसी दूसरी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा।

दूसरा साधन - स्वाध्याय करने के लिए वेद के छह अंग और छह उपांग तथा ब्राह्मणग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक है। बिना ऋषिकृत ग्रन्थों के पढ़े वेद को समझना कठिन है। छह अंग ये हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष। छह उपांग हैं- मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त दर्शन।

तीसरा साधन - मोक्ष शास्त्र को पढ़ने-पढ़ाने वाला और योग के

स्वरूप को जानने-जनाने वाला आचार्य है। जो आचार्य इन मोक्षशास्त्रों को पढ़ाने में समर्थ है और 'ओथम्' आदि का जप कैसे किया जाए, इस विधि को सिखा सकता है, ऐसे विशेष गुरु की आवश्यकता पड़ती है। बिना सच्चे गुरु के जप की विधि समझ में नहीं आती। स्वाध्याय सिद्धि के लिए, मोक्षशास्त्रों में लिखी बातों में से किसी एक बात का प्रयोग करके उसके परिणाम के प्रत्यक्ष होने से भी रुचि उत्पन्न होती है, अतः मोक्ष शास्त्रों की किसी एक या दो पढ़ी हुई बातों का प्रत्यक्ष करके देखना आवश्यक है। किसी बात के प्रयोग से उत्तम परिणाम निकलने पर उस शास्त्र की शेष सूक्ष्म बातों पर भी विश्वास हो जाता है।

पाँचवाँ नियम : ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर, उसकी अतिप्रेम से भक्ति करना अर्थात् उपासना करना, ईश्वर के स्वरूप में मग्न होना और अपनी समस्त क्रियाएँ ईश्वर को परमगुरु मानकर उसके अर्पण कर देना तथा उन क्रियाओं का कोई भी लौकिक फल न चाहना 'ईश्वर प्रणिधान है।' एक छोटा बालक अपनी माता को जैसे सबसे अधिक प्रिय मानता है, वैसे ही ईश्वर को मानना और उसकी उपासना करना। मनुष्य जिन साधनों से अपने कार्यों को सिद्ध करता है वे मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं। एक शरीर, दूसरा वाणी और तीसरा मन। इन तीनों साधनों से मनुष्य दस-दस प्रकार के अच्छे व बुरे कर्म करता है। अच्छे कर्म- शरीर से दान, रक्षा, सेवा, वाणी से सत्य बोलना, हितकर बोलना, प्रिय बोलना, स्वाध्याय करना, मन से दया करना, लोभ न करना, श्रद्धा रखना। बुरे कर्म- शरीर से हिंसा, चोरी, निषिद्ध मैथुन, वाणी से असत्य बोलना, कठोर बोलना, निंदा करना, असंबद्ध बोलना, मन से परद्रोह, परद्रव्य इच्छा, नास्तिकपन। इस प्रकार से दस प्रकार के अच्छे और दस प्रकार के बुरे कर्मों को व्यक्ति करता है। इन सभी अच्छे व बुरे कर्मों को ईश्वर के समर्पित करना 'ईश्वर प्रणिधान' है। कर्मों के समर्पण के साथ ईश्वर की उपासना भी 'ईश्वर प्रणिधान' के अन्तर्गत है।

जैसे एक बालक अपनी माता या पिता के पास रहकर अपने

पढ़ने-लिखने के सभी कार्यों को करता है और जब खेलता है तो खेल की सभी क्रियाओं को माता-पिता के सामने ही करता है तथा माता-पिता के प्रति बालक का प्रेम भी बना रहता है। इस अवस्था में वह बालक यह मानता है कि मैं जो कुछ कार्य कर रहा हूँ, वह सब माता व पिता के सामने कर रहा हूँ। इसी प्रकार जो व्यक्ति ईश्वर को अपनी माता और पिता मानकर सभी क्रियाओं को करता है और उन क्रियाओं का कोई भी लौकिक फल नहीं चाहता तो समझना चाहिए कि वह ईश्वर प्रणिधान को व्यावहारिक रूप दे रहा है। जब कोई मनुष्य मन से किसी बात का निर्णय करता है अथवा किसी विषय पर विचार करता है तो वह अपने उस विचार को ईश्वर के समक्ष रखता है और यह भी देखता है कि यह विचार ईश्वर की दृष्टि में अच्छा है या बुरा। यदि वह विचार ईश्वर की दृष्टि में बुरा सिद्ध होता है तो उस विचार को छोड़ देता है और अच्छा सिद्ध होने पर स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार वाणी की क्रियाओं को भी ईश्वरार्पण करता है और शरीरिक क्रियाओं को भी ईश्वर के सामने रखता है। दैनिक जीवन में यह व्यवहार सतत् चलता रहता है। यदि इन समस्त क्रियाओं को करते हुए किसी लौकिक फल की इच्छा हो जाए तो ईश्वरप्रणिधान में दोष आ जाता है। इस प्रकार से साधक को ईश्वर प्रणिधान के विषय में विशेष परिज्ञान करना चाहिए।

ईश्वर प्रणिधान का फल

'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधनात्' (यो.द. 2/45) ईश्वर प्रणिधान करने से समाधि की सिद्धि होती है। जो व्यक्ति ईश्वराज्ञानुसार ईश्वर प्रणिधान करता है, वह ईश्वर की दृष्टि में पात्र बन जाता है और पात्र बनने के कारण ईश्वर उस साधक को विशेष सहायता देता है, जिससे समाधि की प्राप्ति में सुविधा हो जाती है। समाधि प्राप्त होने पर योगाभ्यासी ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोष व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करते प्रत्युत्त वे ध ीरे-धीरे तनु=निर्बल होते जाते हैं और विशिष्ट योगाभ्यास करते-करते अशुभ संस्कार दग्धबीजभाव में पहुँच जाते हैं, अर्थात् भुने हुए दाने की

भाँति हो जाते हैं।

ईश्वर प्रणिधान के साधन

प्रथम साधन - जब मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव को अच्छी प्रकार से जान लेता है तो जीव और प्रकृति के गुण साधारण से दिखाई देने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीव और प्रकृति ईश्वर की सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। यद्यपि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। पुनरपि जब तक उसे ईश्वर शरीर, इन्द्रिय आदि साधन नहीं देता, तब तक वह ज्ञान, कर्म, उपासना नहीं कर सकता। इसी प्रकार से प्रकृति भी ईश्वर की सहायता के बिना सूर्य, चन्द्र आदि लोक और शरीर, इन्द्रिय, वनस्पति आदि पदार्थों के रूप में स्वयं नहीं बन सकती, अर्थात् सत्व-रज-तम रूप प्रकृति स्वयं अपने अन्दर से संसार की रचना नहीं कर सकती। इसलिए विचारक व्यक्ति जीव और प्रकृति को स्वयं कार्य करने में असमर्थ देखकर इनके प्रति विशेष रूचि नहीं रखता अपितु वह ईश्वर के अनन्त ज्ञान, बल और आनन्द को देखकर उसके प्रति अतिप्रेम करने लगता है।

दूसरा साधन - जब मनुष्य संसार के सभी उत्पन्न पदार्थों को अनित्य जानता है, तो उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वैराग्य का परिणाम यह होता है कि संसार के पदार्थों में अरुचि और ईश्वर में रुचि उत्पन्न हो जाती है। बिना वैराग्य के ईश्वर में अतिप्रेम नहीं होता। जो व्यक्ति ईश्वर में प्रेम बढ़ाना चाहता है, वह विशेष प्रयत्न से वैराग्य उत्पन्न करे।

तीसरा साधन - जब मनुष्य सांसारिक सुखों को क्षणिक और उनमें दुःख को मिश्रित देखता है तो ईश्वर के प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। क्योंकि ईश्वर का सुख नित्य है और दुःखों से रहित है।

योग के आठ अङ्गों में तीसरा अङ्ग-आसन

आसन की परिभाषा- जिस स्थिति में बिना हिले-डुले, सुखपूर्वक प्राणायाम, ओथमादि का जप और समाधि लगा सके उसे 'आसन' कहते

हैं। जो अनेक आसन किये जाते हैं जिनमें उछलने-कूदने, ऊपर-नीचे मुड़ने की अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती हैं उन आसनों को व्यायाम ही समझना चाहिए, योग का अंग नहीं, क्योंकि उछलने-कूदने आदि सभी क्रियाओं का योगदर्शन में निषेध किया गया है हिलने-डुलने और कूदने में ध्यान करना कठिन है। नवीन साधक इन क्रियाओं को करते हुए अपने मन को वश में नहीं कर सकता। इसलिए जिस स्थिति में बिना हिले-डुले सुखपूर्वक सीधे बैठकर ईश्वर का ध्यान किया जाए, समाधि लगाई जाए वह 'आसन' कहलाता है। शेष आसन शरीर के व्यायाम हैं, उन्हें करने से शरीर स्वस्थ और बलवान् होता है, अतः उनका करना भी आवश्यक है। ध्यान करने के लिए जो आसन साधक के अनुकूल हो, उसका प्रयोग किया जाता है। जैसे कि स्वस्तिक आसन, सिद्धासन आदि। यदि एक आसन पर लम्बे काल तक बैठने में कठिनाई होती हो तो मध्य में आसन को परिवर्तित कर लेना चाहिए, क्योंकि दर्द होने पर ध्यान में बाधा पड़ती है। कुछ काल तक आसन को बदले हुए रखकर पुनः पूर्ववाला आसन लगा लेना चाहिए। इससे एक आसन पर बैठने का अभ्यास लम्बा हो जाता है।

आसन सिद्धि के उपाय

प्रथम उपाय - समस्त शारीरिक चेष्टाओं को बंद करने से आसन की सिद्धि होती है। जब मनुष्य अपनी समस्त शारीरिक क्रियाओं को बंद कर देता है तो सुखपूर्वक लम्बे कालपर्यन्त बिना हिले-डुले बैठ सकता है, क्योंकि आसन को स्थिर करने में शारीरिक चेष्टाएँ बाधक हैं।

दूसरा उपाय - अनन्त ईश्वर का ध्यान करना है। अनन्त पदार्थ कभी हिलता-डुलता नहीं है, क्योंकि इधर-उधर स्थान में वे ही वस्तुएँ आती जाती हैं जो एक देशी होती हैं। ईश्वर सर्वदेशी है इसलिए कहाँ जाएगा? ईश्वर अनन्त है। यह समस्त संसार ईश्वर के एक भाग में रहता है। जो व्यक्ति अनन्त पदार्थ का ध्यान करता है तो जैसे अनन्त पदार्थ हिलता-डुलता नहीं वैसी स्थिति अनन्त का ध्यान करनेवाले की भी हो जाती है। आसन को सिद्धि का यह अर्थ नहीं है कि तीन व छह

घंटे बैठना। यदि व्यक्ति एक घंटा प्रातःकाल और एक घंटा सायंकाल सुखपूर्वक बैठकर समाधि लगा लेता है तो ईश्वर साक्षात्कार में कोई बाधा नहीं पड़ती। नवीन योगाभ्यासी प्रारंभ में पन्द्रह बीस मिनट अथवा आधा घण्टा ही बैठकर ध्यान कर पाता है। पश्चात् इस काल को बढ़ाया जा सकता है।

आसन का लाभ

जब व्यक्ति अभ्यास करते-करते आसन की सिद्धि कर लेता है तो शीतता, उष्णता एकसीमा तक साधक को पीड़ा नहीं देती। इसलिए लम्बे काल पर्यन्त एक आसन पर बैठकर योगाभ्यास किया जा सकता है। जब लम्बे काल तक एक आसन में बैठने का अभ्यास हो जाता है तो शारीरिक दर्द भी न्यून होता है अथवा लम्बे काल तक पीड़ा नहीं होती। आसन सिद्धि से यह भी लाभ होता है कि साधक चित्त की वृत्तियों को शीघ्र ही रोक लेता है। अस्थिर शरीर में वृत्तियों का रोकना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार आसन का स्वरुप समझकर उसका प्रयोग करना चाहिए। इससे योगाभ्यास में सफलता मिलती है।

योग के आठ अंगों में चौथा अंग-प्राणायाम

प्राणायाम का स्वरूप और उसके करने की विधि प्रत्येक मनुष्य को अनुभवी गुरु से सीखनी चाहिए। बिना ज्ञान के प्राणायाम करने से हानि हो जाती है।

प्राणायाम की परिभाषा - आसन के सिद्ध होने पर श्वास और प्रश्वास की गति को यथाशक्ति रोक देना 'प्राणायाम' कहलाता है। मनुष्य जिस वायु को बाहर से अंदर लेता है उसे श्वास कहते हैं और जिस वायु को अंदर से बाहर निकालता है उसे प्रश्वास कहते हैं। श्वास और प्रश्वास की गति को यथाशक्ति रोक देना प्राणायाम है, अर्थात् जितने काल तक सरलतापूर्वक प्राण को भीतर अथवा बाहर रोका जा सके, उतने काल तक रोकना चाहिए, अति बलपूर्वक नहीं रोकना चाहिए, इससे हानि होती है।

प्राणायाम के साधन

प्रथम साधन – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच यमों का पालन करना आवश्यक है। इनके पालन करने से प्राणायाम में शीघ्र ही सफलता मिलती है।

दूसरा साधन – शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिध ाान इन पाँच नियमों का भी यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

तीसरा साधन – पूर्व बतलाई गई आसन की विधि के अनुसार आसन करना चाहिए। आसन के दृढ़ अभ्यास से प्राणायाम करने में सुविध ाा हो जाती है।

चौथा साधन – सात्विक भोजन प्राणायाम करने में अत्यन्त सहायक है। बुद्धिवर्द्धक, बलवर्द्धक शांतिदेनेवाला और अहिंसक उपायों से प्राप्त मद्य–मांस आदि वर्जित भोजन का सेवन करना चाहिए। जो भोजन बुद्धिनाशक है और जिसके खाने से शारीरिक, मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं और जिसकी प्राप्ति हिंसा से होती है, उसका परित्याग कर देना चाहिए। जहाँ तक हो सके शुद्ध स्थान और शुद्ध जलवायु के वातावरण में प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार से प्राणायाम के स्वरूप को जानकर, उसके साधकों का ज्ञान और बाधकों का ज्ञान प्राप्त करके प्राणायाम करना चाहिए।

योग दर्शन के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार का है–

(1) बाह्य प्राणायाम (2) आभ्यन्तर प्राणायाम (3) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम (4) बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी प्राणायाम।

बाह्य प्राणायाम की विधि

प्रथम अच्छी प्रकार आसन लगा लेना चाहिए। तत्पश्चात् मूलेन्द्रिय अर्थात गुदा को ऊपर संकुचित करना चाहिए। पुनः नासिका से प्राण को यथाशक्ति बाहर निकाल देना चाहिए। यदि प्रारम्भ में मूलेन्द्रिय संकोच न हो तो कोई हानि नहीं है। इस अवस्था में 'ओथम्' शब्द का अथवा 'प्राणायाम मन्त्र' का जप अर्थ सहित करना चाहिए। जब तक कुछ

घबराहट न हो तब प्राण को बाहर रोकना चाहिए। घबराहट होते ही ध
ीरे-धीरे अन्दर ले लेना चाहिए और मूलेन्द्रिय के संकोच को छोड़ देना चाहिए। जब प्राण आवश्यकता के अनुसार अन्दर आ जाए तो समझना चाहिए कि एक प्राणायाम हो गया। इसी प्रकार दूसरा और तीसरा प्राणायाम करे। प्रारंभ में व्यक्ति को तीन प्रातः काल और तीन सायंकाल-दोनों कालों में छः प्राणायाम करने चाहिएँ। इसके पश्चात भोजन, बल, ऋतु और अनुभव के साथ प्राणायाम की संख्या को बढ़ाया व घटाया जा सकता है। यदि पौष्टिक भोजन हो तो घटाना चाहिए। यदि शारीरिक बल अधिक हो तो अधिक प्राणायाम करना चाहिए और न्यून बल हो तो न्यून करना चाहिए। यदि शीत ऋतु हो तो अधिक प्राणायाम करना चाहिए और उष्ण ऋतु हो तो न्यून प्राणायाम करना चाहिए। वर्षाकाल में मध्यम स्तर पर प्राणायाम करना चाहिए। अनुभव के साथ प्राणायाम करना चाहिए। यदि प्राणायाम करते-करते मुँह सूखता है अथवा सिर भारी हो जाता है तो प्राणायाम करना बंद कर देना चाहिए, क्योंकि आवश्यकता से अधि
ाक प्राणायाम करने से हानि हो जाती है। प्राणायाम की संख्या भी निश्चित करनी चाहिए। इससे आवश्यकता से अधिक व न्यून प्राणायाम नहीं होता। शरीर के अस्वस्थ होने पर प्राणायाम नहीं करना चाहिए। भोजन खाकर प्राणायाम नहीं करना चाहिए। भोजन खाने के पश्चात् जब भोजन पच जाये तब प्राणायाम करना चाहिये। जब शरीर में अधिक मात्रा में मल भरा हो तो प्राणायाम नहीं करना चाहिए। परन्तु मल की मात्रा बहुत न हो तो प्राणायाम कर सकते हैं। प्राणायाम करने वाले व्यक्ति को बुद्धिनाशक द्रव्यों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

आभ्यन्तर प्राणायाम की विधि

जब बाह्य प्राणायाम का अभ्यास अच्छी प्रकार से हो जाए तब आभ्यन्तर प्राणायाम करना चाहिए। जब साधक बाह्य प्राणायाम करता हुआ, किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करता और प्राणायाम के साथ-साथ ओथमादि का जप भी बिना कठिनाई के करने लग जाता है तो समझना चाहिए कि बाह्य प्राणायाम का अच्छा अभ्यास हो गया है।

प्रथम आसन को अच्छी प्रकार से लगा लेना चाहिए। इसके पश्चात् एक बार प्राण को बाहर निकाल देना चाहिए। इसके पश्चात् बाहर से नासिका के माध्यम से वायु को धीरे–धीरे अन्दर ले लेना चाहिए। मन में ओथमादि का जप और ईश्वर–समर्पण अवश्य ही करें। जो विचार योग में बाधा उपस्थित करते हैं, उनको मन में न उठाएँ। जब कुछ घबराहट की अनुभूति हो तो प्राण को बाहर निकाल देवें। यह एक प्राणायाम हो गया ऐसा समझना चाहिए। आभ्यन्तर प्राणायाम में मूलेन्द्रिय को संकुचित न करें। इसी प्रकार से दूसरा और तीसरा प्राणायाम करना चाहिए।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की विधि

प्रथम अच्छी प्रकार से आसन लगा लेना चाहिए। इसके पश्चात् जो श्वास और प्रश्वास की गति स्वाभाविक चलती है, उसे इस प्रकार से करना चाहिए कि यदि प्राण अन्दर जा रहा हो अथवा जा चुका हो तो उसको जहाँ का तहाँ यथाशक्ति रोक देना चाहिए और विधिपूर्वक ओथमादि का जप करना चाहिए। जब कुछ घबराहट हो, तो प्राण को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार से जब प्राण बाहर जा रहा हो, तो अन्दर ले लेना चाहिए। इसे भी तीन प्राणायाम से प्रारंभ करके फिर धीरे–धीरे यथाशक्ति बढ़ाना चाहिए।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम की विधि

प्रथम आसन को अच्छी प्रकार से लगाकर प्राण को बाहर निकाल देना चाहिए और बाहर ही रोक देना चाहिए। जब प्राण को अन्दर लेने की इच्छा हो जाए तो बाहर से प्राण को अंदर न लेवें, किन्तु अंदर जो प्राण बचा हुआ है, उसको बाहर निकाल देवें। इसी प्रकार से एक बार, दो बार या तीन बार यथाशक्ति करें। इसके पश्चात् प्राण धीरे–धीरे अन्दर ले लेवें और अन्दर ही रोक देवें। जब प्राण को बाहर निकालने की इच्छा हो तो बाहर न निकालकर बाहर से कुछ प्राण और अन्दर ले लेवें। इसी प्रकार एक बार, दो बार या तीन बार यथाशक्ति करें। जब

घबराहट हो तो धीरे–धीरे प्राण को बाहर निकाल दें। यह एक प्राणायाम हुआ। इसे भी तीन प्राणायाम से प्रारंभ करें और धीरे–धीरे यथाशक्ति बढ़ाएँ।

प्राणायाम के लाभ

प्रथम लाभ – प्राणायाम करने से शरीर की शुद्धि होती है। साध
ारण रूप से श्वास लेने से फेफड़ों के सब स्थानों में वायु का प्रवेश नहीं होता। प्राणायाम करने से वायु में वेग उत्पन्न होता है, इससे वायु फेफड़ों के उन भागों में भी प्रवेश कर जाती है, जहाँ पर सामान्य श्वास लेते समय प्रवेश नहीं करती। जैसे सामान्य अवस्था में गुफा आदि स्थानों में सामान्य वायु प्रवेश नहीं करती अथवा अल्प मात्रा में करती है परन्तु तूफान के आने पर गुफाओं में भी वायु प्रवेश कर जाती है और वहाँ की अशुद्ध वायु को बाहर निकाल देती है। कभी–कभी अशुद्ध वायु पेट आदि में भी रुक जाती है और दु:ख उत्पन्न करती है। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से वह अशुद्ध वायु शरीर में रुक जाने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और उन रोगों के कारण मनुष्य को विविध प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं। अशुद्ध शरीर में बुद्धि का विकास रुक जाता है।

दूसरा लाभ – 'तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्' (यो. द. 2/52) प्राणायाम के करने से ज्ञान को ढ़कने वाला आवरण नष्ट हो जाता है। प्राणायाम करने से मन और इन्द्रियाँ साधक के वश में आ जाती है। मन और इन्द्रियों के वश में आ जाने से योगाभ्यासी अशुभ संस्कारों को जानने, उनको रोकने और उन्हें बाहर निकालने में समर्थ हो जाता है। अशुभ संस्कार अविद्या को उत्पन्न करते हैं। अशुभ संस्कारों को हटा देने से शुभ संस्कार उभर आते हैं, वे शुभ संस्कार ज्ञान उत्पन्न करते हैं। मन और इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति पुराने शुद्ध संस्कारों को जगाने में तथा नवीन शुद्ध संस्कारों को बनाने में सफल हो जाता है। इसी कारण से अशुभ संस्कारों को हटाने से और शुभ संस्कारों को जगाने से तथा अशुभ संस्कारों का नाश करने से और नवीन शुभ

संस्कारों को उत्पन्न करने से, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होती है। प्राणायाम करने से मन की एकाग्रता होती है। मन की एकाग्रता से ईश्वर उपासना में सफलता मिलती है। विधिपूर्वक उपासना करने से ईश्वर उपासक को पात्र समझकर उसे अपना ज्ञान प्रदान करता है। उस ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से अविद्या और कुसंस्कार समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान को ढ़कनेवाला आवरण अर्थात् अविद्या और कुसंस्कार समाप्त हो जाते हैं।

तीसरा लाभ – प्राणायाम के बल से एक सीमा तक कुछ काल के लिए शीत को हटाया जा सकता है। प्राणायाम करने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, इससे शीत की निवृत्ति होती है, परन्तु अति प्राणायाम के करने से शरीर में रोग उत्पन्न होता है और बुद्धि भी खराब हो जाती है। इसलिए अपनी शक्ति से अधिक प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

चौथा लाभ – प्राणायाम के आधार पर बिना हाथ–पैर की क्रिया किये लम्बे काल तक व्यक्ति जल पर लेटा रह सकता है। इससे यह भी लाभ होता है कि जब कभी मनुष्य किसी गहरे और लम्बे पानी में घिर जाए तो प्राणायाम करके जल के मध्य लेटकर विश्राम कर सकता है। तैरेने से जो थकान आती है उसे उतार सकता है और पुनः तैरकर बाहर निकल सकता है।

पाँचवाँ लाभ – प्राणायाम करने से व्यक्ति के शरीर में इतना बल आ जाता है कि वह एक साथ दो कारों को रोक सकता है और अपनी छाती पर बहुत अधिक भार वाले पत्थर आदि को तुड़वाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम करने से आध्यात्मिक और शारीरिक अनेक लाभ होते हैं, परन्तु अति प्राणायाम करने और बिना विधि के प्राणायाम करने से हानि होती है। इसलिए अपनी शक्ति से अधिक और बिना विधि के जाने प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

योग के आठ अंगों में पाँचवाँ अंग – प्रत्याहार

प्रत्याहार का अभिप्राय है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध टूट जाने पर चित्त के अनुरूप हो जाना। जिस प्रकार मधु-मक्खियों में रानी मक्खी जहाँ-जहाँ जाती है, उसी के पीछे हजारों मक्खियाँ चलती हैं और जहाँ रानी मक्खी बैठती है वहीं पर सभी मक्खियाँ अपना-अपना कार्य प्रारंभ कर देती हैं। इसी प्रकार से जहाँ-जहाँ पर चित्त जाता है अथवा जीवात्मा जहाँ चित्त को लगाता है, वहीं पर सभी इन्द्रियाँ चित्त का अनुसरण करती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है। चित्त एक जड़ पदार्थ है क्योंकि यह जड़ प्रकृति से बना है। अल्पज्ञता के कारण मनुष्य इस जड़ चित्त को चेतन मान लेता है। चेतन मानने के कारण मनुष्य का चित्त पर पूर्णाधिकार नहीं हो पाता। जब साधक योगाभ्यास से इस चित्त को जड़ समझ लेता है और पूरी शक्ति से यम नियमों का पालन करता है, तो चित्त पर अधिकार कर लेता है। चित्त पर अधिकार कर लेने से सभी इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने लगती है।

प्रत्याहार का फल

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर सभी इन्द्रियाँ साधक के पूर्णरूपेण वश में आ जाती हैं। ध्यान करते समय जब किसी इन्द्रिय का बाहर के विषय के साथ संबंध जुड़ जाता है, तो चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है। जैसे कि ध्यानकाल में श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ संबंध होता है तो श्रोत्रेन्द्रिय चित्त को बाहर के विषय की ओर खींच लेती है, परन्तु प्रत्याहार की सिद्धि होने पर सभी इन्द्रिया चित्त के अनुसार चलती हैं। इस अवस्था में ध्यान करनेवाले को कोई भी इन्द्रिया बाधित नहीं करती। इसलिए प्रत्याहार को सिद्ध करके समाधि तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

प्रत्याहार के साधन

प्रथम साधन - प्रत्याहार को सिद्ध करने के लिए शांत एकान्त वातावरण में मन व इन्द्रियों को रोकने का अभ्यास करना चाहिए। जहाँ पर इन्द्रियों के विषय बार-बार इन्द्रियों से संबद्ध होते हैं, वहां पर प्रत्याहार

की सिद्धि में अधिक कठिनाई होती है। प्रारंभ में साधक इन्द्रियों के साधारण आक्रमण को रोक सकता है, तीव्र आक्रमण को नहीं रोक सकता। जहाँ पर अति तीव्र ध्वनि होती है वहाँ पर प्रत्याहार की सिद्धि कठिन है। इसलिए प्रारंभ में वहीं पर रहकर अभ्यास करना उचित है जहाँ इन्द्रियों पर विषयों का आक्रमण न्यून है। विशेष अभ्यास के पश्चात् तो इन्द्रियों के प्रबल विषयों की उपस्थिति में भी प्रत्याहार की स्थिति अच्छी बन सकती है।

दूसरा साधन – जब मनुष्य इन्द्रियों के विषय भोगों में दोष देखता है तो उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति विषय भोगों में सुख समझता है, वह प्रत्याहार की सिद्धि नहीं कर सकता।

तीसरा साधन – जब साधक ईश्वर के प्रति अधिक प्रेम करता है तो इन्द्रियाँ स्वयं विषयों की ओर नहीं जातीं, क्योंकि उस समय जीव की इच्छा व प्रयत्न ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पादन में लगे रहते हैं। जीव की इच्छा और प्रयत्न इन्द्रियों को विषयों की ओर चलाने में कारण है। जब कारण को हटा दिया जाता है, तो कार्य भी हट जाता है। इस प्रकार प्रत्याहार की सिद्धि करनी चाहिए।

इस प्रसंग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इन पाँच बाह्य अंगों का वर्णन किया है। इसके आगे योग के तीन अन्तरंगों का वर्णन किया जाएगा।

योग के आठ अंगों में छठा अंग – धारणा

चित्त को किसी एक स्थान पर रोक देना 'धारणा' है। शरीर के एक भाग जैसे कि मस्तक, हृदय, नाभि आदि में जहाँ पर भी व्यक्ति की रुचि हो वहाँ पर रोकना चाहिए। जब एक स्थान पर मन को रोकने का अभ्यास हो जाता है तो वहाँ से हटाकर दूसरे स्थान पर भी रोकने में सफलता मिलती है। जैसे कि कोई अपने मन को मस्तक में रोकने का अभ्यास कर लेता है तो वह चित्त को मस्तक से हटाकर नाभि में भी रोकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसलिए प्रारंभ में तो जहाँ पर भी

रुचि हो, वहीं पर धारणा का अभ्यास करना चाहिए।

धारणा का फल

प्रथम लाभ – धारणा की सिद्धि होने पर साधक अपने शुभ और अशुभ विचारों को जानने और उनमें से शुभ विचारों को पकड़े रखने तथा अशुभ विचारों को छोड़ने में समर्थ हो जाता है। जब योगाभ्यासी अपने मन को एक स्थान पर रोक लेता है तो वह अपने मन के साथ सम्बद्ध अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के विचारों को जान पाता है। क्योंकि मन के साथ दोनों प्रकार के विचारों का सम्बन्ध है। जब चित्त स्थिर नहीं होता तो अच्छे और बुरे विचारों का परिज्ञान नहीं हो पाता। अस्थिर चित्त में जो विचार अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही विचार स्थिर चित्त में बुरे प्रतीत हो सकते हैं। इसी प्रकार स्थिर चित्त में जो विचार अच्छे प्रतीत होते हैं, वे ही अस्थिर चित्त में बुरे प्रतीत हो सकते हैं। यह विचारों की वास्तविकता धारणा से जानी जाती है। अस्थिर चित्त में अशुभ विचारों को हटाकर शुभ विचारों की स्थापना नहीं हो पाती। किन्तु स्थिर चित्त में अशुभ विचारों को हटाकर शुभ विचारों की स्थापना की जा सकती है। एक स्थान पर मन को रोकने का अभ्यास होने पर व्यक्ति बुरे विचारों से युद्ध करने में सफल हो जाता है, परन्तु जब तक धारणा की सिद्धि नहीं होती तब तक बुरे विचारों से युद्ध नहीं हो पाता। जैसे कि रस्सा खींचने में जब व्यक्ति अपने पैरों को एक स्थान पर जमा लेता है तो दूसरा विरूद्ध दिशा में रस्सा खीचने वाला व्यक्ति उसको उस स्थान से खींचकर नहीं ले जा सकता, परन्तु जब उस व्यक्ति के पैर एक स्थान पर नहीं जमते तो दूसरा व्यक्ति उसको खींचकर ले जाता है और रस्सा खिंचाई में वह विफल हो जाता है। इसी प्रकार से जो साधक अपना एक स्थान बना लेता है और वहीं पर अपने चित्त को ठहरा लेता है वही अपनी इच्छा के अनुसार उत्तम कार्यों को कर सकता है अन्य नहीं।

मन के चंचल रहते हुए हानिकारक विचारों को रोकना संभव नहीं है। जब तक योग के विरोधी विचार नहीं रूकते तब तक योग की सिद्धि नहीं हो सकती। योगाभ्यासी व्यक्ति को सदा अन्तरमुख अर्थात्

बाहर की ओर से वृत्तियों को रोककर अन्दर शरीर में एक केन्द्र बनाकर वहीं पर स्थिर रहना चाहिए। इसके बिना ध्यान और समाधि की प्राप्ति कठिन है।

दूसरा लाभ – जब साधक धारणा की सिद्धि कर लेता है तो फिर उसे ध्यान की सिद्धि हो जाती है। जब व्यक्ति अपने मन को अनेक विषयों से हटा लेता है और एक स्थान पर स्थिर कर लेता है तो जिस साध्य को वह प्राप्त करना चाहता है, उसकी गवेषणा में सफल हो जाता है। इसलिए प्रत्येक साधक को धारणा की सिद्धि अवश्य करनी चाहिए।

योग के आठ अङ्गों में सातवाँ अङ्ग – ध्यान

जहाँ पर धारणा की जाती है, वहीं पर ईश्वर आदि साध्य से सम्बद्ध ज्ञान की एकतानता अर्थात् एकपना–तारतम्य बना रहना 'ध्यान' है। ध्यान के विषय में योगाभ्यासी अच्छी प्रकार से जान ले कि वास्तविक ध्यान क्या है। जिस वस्तु को मनुष्य प्राप्त करना चाहता है, उसके विषय में शब्द प्रमाण अथवा अनुमान के द्वारा अच्छी प्रकार से जानना चाहिए। शब्द प्रमाण द्वारा जैसे कि ईश्वर का ध्यान करना है तो वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में ईश्वर का जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा ही समझना चाहिए। वेदों में और ऋषिकृत ग्रन्थों में ईश्वर को सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाला इत्यादि लक्षणोंवाला बतलाया है। इसी प्रकार के ईश्वर को मन में रखकर उसे ढूँढना ध्यान है। इससे भिन्न प्रकार का समझकर ढूँढ़ना ध्यान नहीं है।

अथवा अनुमान प्रमाण से ईश्वर को जानकर उसका ध्यान करना उचित है। जैसे कि इस विशाल सृष्टि में सर्वत्र बुद्धिपूर्वक क्रिया देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापक इन क्रियाओं को उचित रुप से करने वाला है। वही ईश्वर है। उसी की गवेषणा ध्यान में करनी चाहिए। जब तक व्यक्ति शब्द प्रमाण या अनुमान प्रमाण से वस्तु के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानता तब तक ध्यान की

सिद्धि नहीं कर सकता। जैसे कि एक विद्यार्थी अपने आचार्य से विद्यालय में हिमालय पर्वत के विषय में अध्ययन करता है कि हिमालय पर्वत इतना लम्बा इतना चौड़ा और अमुक स्थान पर है। वह विद्यार्थी हिमालय पर्वत का साक्षात्कार करना चाहता है। इस इच्छा को पूरा करने लिए अपने गुरुजी के पढ़ाये पाठ के अनुसार हिमालय पर्वत को अपनी बुद्धि में रखकर, उसकी गवेषणा करता है और अन्य विचारों को तथा कार्यों को बंद कर देता है, तो यह हिमालय पर्वत का ध्यान कहलाता है। यदि हिमालय पर्वत के विषय में अध्यापक का ज्ञान ठीक न हो और वह एक छोटी सी पहाड़ी को ही हिमालय पर्वत जानता हो और किसी विद्यार्थी को वैसे ही अशुद्ध पाठ दे कि यह छोटी सी पहाड़ी हिमालय पर्वत है और वह विद्यार्थी उस अशुद्ध पाठ के अनुसार हिमालय पर्वत को ढूँढ़े तो उसे हिमालय पर्वत का ध्यान नहीं कहा जा सकता और उस प्रयास से हिमालय पर्वत की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसी प्रकार से जो व्यक्तिईश्वर का ध्यान यह मानकर करता है कि ईश्वर शरीर धारी है, एक स्थान पर रहता है आदि–आदि, तो यह ईश्वर का ध्यान नहीं कहलाएगा और इस प्रकार के ध्यान से ईश्वर की प्राप्ति भी संभव नहीं है, क्योंकि ईश्वर संपूर्ण सृष्टि के बाहर और भीतर विद्यामान है। ईश्वर जैसा है उसे उसी प्रकार का समझकर ढूँढ़ना ध्यान कहलाता है। चुपचाप बैठने का नाम भी ध्यान नहीं है, क्योंकि योग दर्शन के अनुसार जिस वस्तु को प्राप्त करना हो उस वस्तु की प्राप्ति के लिए ज्ञान की एकतानता–तारतम्यता बनी रहना ध्यान है। चुपचाप बैठने मात्र से ज्ञान की एकतानता नहीं बनी रह सकती। ध्यान का उदाहरण – किसी व्यक्ति के हाथ से एक सोने का आभूषण गहरे पानी में गिर गया। उस आभूषण का नाम हार है। उसका मूल्य एक लाख रूपया है। जिसके हाथ से हार पानी में गिरा है, वह व्यक्ति गोता लगाना नहीं जानता, अतः उस हार को निकालने में असमर्थ है। वह किसी गोता लगाने वाले से कहता है कि आप गोता लगाना जानते हैं, मेरा सोने का हार पानी में गिर गया है, अतः आप उसको निकला दीजिए। गोता लगाने वाले ने उस व्यक्ति के हार को

कभी भी नहीं देखा। वह केवल शब्द प्रमाण के आधार पर ही उसकी बात को मानकर हार की गवेषणा करता है। हार की गवेषणा करते समय उसके ज्ञान में जैसा शब्द के माध्यम से हार का स्वरूप बतलाया है, वैसा ही है, अन्यथा नहीं। हार का स्वरूप, नाम तथा मूल्य, इन सब बातों को जानकर जब गोता लगानेवाला व्यक्ति हार को गहरे पानी में ढूँढ़ता है और उस काल में अन्य किसी भी विषय को मन में नहीं रखता तो इसे हार का ध्यान कहा जाएगा। इसी प्रकार से ईश्वर के विषय में भी समझना चाहिए। ईश्वर का नाम और उसके गुणों को शब्द प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण से अच्छी तरह से जानकर उसकी खोज करना और उस काल में किसी अन्य विषय को मन में न रखना ईश्वर का ध्यान कहलाता है। ध्यान करनेवाला अपने (आत्मा के) विषय में अच्छी प्रकार से जाने, जिसकी गवेषणा करनी है उस ईश्वर के विषय में भी अच्छी प्रकार से जाने व जिसके माध्यम से ध्यान किया जाता है उस साधन मन को भी ठीक प्रकार से जान लेवे।

मुण्डकोपनिषद् में ध्यान की विधि

मुण्डकोपनिषद् में ध्यान के विषय में बतलाया है कि प्रणव='ओथम्' धनुष है। जीवात्मा तीर है, ब्रह्म अर्थात् ईश्वर उस तीर का अर्थात् आत्मा का लक्ष्य है। प्रमाद, आलस्य, अज्ञान रहित होकर आत्मारूपी तीर को ब्रह्मरूपी लक्ष्य में लगाना चाहिए। जैसे तीर अपने लक्ष्य में लग जाता है वैसे ही आत्मा को ब्रह्मरूपी लक्ष्य में लग जाना चाहिए अर्थात् ब्रह्म में लीन=मग्न हो जाना चाहिए।

ध्यान करने में एक तो जिस शब्द के द्वारा ध्यान किया जाता है, उस शब्द का उच्चारण अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। बिना शब्द का उच्चारण जाने ध्यान नहीं हो सकता। दूसरा- जिस शब्द या वाक्य या मंत्र द्वारा ध्यान किया जाता है अर्थात् बार-बार जप किया जाता है उसका अर्थ कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। ध्यानकाल में शब्दोच्चारण के साथ-साथ अर्थ का विचार करना भी आवश्यक है अन्यथा ध्यान में दोष आ जाता है। तीसरा-ईश्वरप्रणिधान बनाये रखना चाहिए। इस प्रकार

शब्दोच्चारण शब्द के अर्थ का विचार तथा ईश्वरसमर्पण ये तीन कार्य ध्यान में करने चाहिएँ। यदि इन तीनों में से कोई एक कार्य नहीं होता तो समझना चाहिए कि ध्यान में दोष आ गया। नवीन साधक प्रारंभ में इन तीनों कार्यों को एक साथ नहीं कर पाता, परन्तु अभ्यास करते-करते कालान्तर में तीनों को एक साथ करने में बाधा नहीं होती। इस प्रसंग में ईश्वर-समर्पण की बात इस प्रकार से समझनी चाहिए कि जैसे एक बालक अपने माता-पिता या आचार्य के समक्ष बैठकर उनकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता है, और स्वयं को उनके समर्पित कर देता है, वैसे ही साधक भी ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता हुआ शब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण के आधार पर ईश्वर के समर्पित हो जाता है।

प्रारंभ में शब्द का उच्चारण, अर्थ का विचार और ईश्वर-समर्पण एक साथ करने में कठिनाई होती है, अतः प्रथम शब्द का उच्चारण करना चाहिए पुनः रूककर शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिए। ईश्वर-समर्पण दोनों स्थितियों में अर्थात् शब्द का उच्चारण करते समय और अर्थ-विचार करते समय बना रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए। इसी प्रकार से पुनः-पुनः करना चाहिए। जैसे कि प्रथम एक साधक ने बोला 'ओ३म्' इस ओम् के बोलने के पश्चात् ओम् शब्द का जो अर्थ है उसका विचार किया कि 'हे ईश्वर! आप सर्वरक्षक हैं।' इसी प्रकार से दूसरी बात, तीसरी बार.... करना चाहिए। जब ओम् शब्द के एक अर्थ का विचार अच्छी प्रकार से होने लग जाए तो पुनः दूसरा अर्थ ले लेना चाहिए। जैसे 'सर्वरक्षक' अर्थ का अच्छी प्रकार विचार होने लगने के बाद 'आनन्द-स्वरूप' अर्थ का विचार करने लगे, 'आनन्द-स्वरूप' का भी अच्छी प्रकार विचार होने लग जाने के बाद 'न्यायकारी' अर्थ का विचार करने लगे, इसी प्रकार अन्य दूसरे-दूसरे अर्थ भी लिए जा सकते हैं। जब ओम् शब्द के जप का अभ्यास परिपक्व को जाए तो पुनः 'ओ३म् सच्चिदानन्द' इतने वाक्य का भी जप किया जा सकता है।

ध्यान में बोले जाने वाले जप के शब्द, वाक्य और मंत्र को मन

में बोलकर ध्यान किया जा सकता है, हल्की ध्वनि से बोलकर भी ध्यान किया जा सकता है, और ऊँचे स्वर से बोलकर भी ध्यान किया जा सकता है। जप की इन सब रीतियों में ध्यान की परिभाषा के अनुसार अपनी स्थिति को बनाये रखना चाहिए। जिस योगाभ्यासी को जो रीति अनुकूल हो, वह उससे ध्यान कर सकता है।

ध्यान की प्रक्रिया में स्थूल रूप से तीन रीतियाँ

स्थूल रूप से तीन रीतियों से साधक जप कर सकता है।

प्रथम रीति – यह है कि जप-वाक्य का उच्चारण करना पुनःरूक जाना और फिर उस जप-वाक्य के अर्थ का विचार करना। इसी प्रकार से बार-बार करना, जैसा कि पूर्व लिखा है।

दूसरी रीति – शब्द को या वाक्य को लम्बे रूप से बोलना और उस वाक्य जो अर्थ है, उस अर्थ का विचार उच्चारण के साथ-साथ करना। जैसे कि ओम् को लम्बा करके बोलना और उस लम्बे काल में ओम् शब्द का जो अर्थ है, 'सर्वरक्षक' उसका विचार साथ-साथ करना। इसी प्रकार से दूसरी बार और तीसरी बार भी करना। इस रीति से करने में लम्बे उच्चारण के साथ-साथ अर्थ का विचार करने के लिए अवकाश मिलता है। यदि शीघ्र उच्चारण किया जाए तो नवीन साधक उच्चारण के साथ-साथ अर्थ का विचार नहीं कर पाता। जब अर्थ का विचार नहीं होता तो जप में दोष आ जाता है।

तीसरी रीति – यह है कि शब्दोच्चारण मध्यगति से करना और उसके अर्थ का विचार साथ-साथ करना, अर्थात् तीसरी रीति में दूसरी रीति की अपेक्षा शब्दोच्चारण की गति अधिक होगी, यही दोनों रीतियों में अंतर है। पर अर्थ का विचार दोनों में साथ-साथ ही होगा। तीसरी रीति से वे ही व्यक्ति ध्यान करने में सफल हो पाते हैं जिनकी साधना बहुत ऊँची है। जो व्यक्ति योगाभ्यास करते-करते निपुण हो गये हैं, वे ही इस रीति से ध्यान करने में सफल हो सकते हैं, अन्य नहीं।

ध्यान का फल

ध्यान करते-करते जब व्यक्ति ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसका फल समाधि होता है। ध्यान से समाधि की प्राप्ति होती है, जिसमें वस्तु का साक्षात्कार होता है। ध्यान से मन पर वश्यता हो जाती है और मन की वश्यता होने से लौकिक राग-द्वेष व्यक्ति को दुःख नहीं दे सकते। विचारों के कारण मनुष्य के मन में बार-बार दुःख उत्पन्नहोता है और उस दुःख से दिनभर पीड़ित रहता है, परन्तु ध्यान का अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते साधक ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो दुःख के उत्पादक विचारों को रोकने में सफल हो जाता है। ध्यान के बल पर व्यक्ति सूक्ष्म विषयों में चित्त को लगाकर उनके स्वरूप को शीघ्र ही जान लेता है। ध्यान के अभ्यास से विद्यार्थी अपने पढ़े हुए पाठ को शीघ्र ही स्मरण कर लेता है और गुरुजी से पाठ पढ़ते हुए भी अपने मन को अन्य विषयों की ओर नहीं जाने देता। जब विद्यार्थी का मन अधि ाकार में नहीं होता तो आचार्य के द्वारा पढ़ाया हुआ पाठ समझ में नहीं आता और वही पाठ मन के वश में होने पर समझ में आ जाता है। व्यावहारिक जीवन में विविध प्रकार के रूपादि विषयों को देखकर मनुष्य उनकी ओर आकृष्ट होता है और विषयों में आसक्त होकर अत्यन्त अपवित्र कर्मों को करता है, जिसका परिणाम अपने और अन्यों के लिए बहुत भयंकर होता है। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास कर लेता है वह विषयासक्त नहीं होता। इसी कारण वह पाप कर्मों को नहीं करता। ध् यान करने से मनुष्य में यह शक्ति भी आ जाती है कि तत्काल एक विषय से मन को हटाकर अन्य विषय विशेष में लगा लेता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने विचारों को वश में करके शीघ्र ही निंद्रा लेने में सफल होता है। जब कभी किसी विषय पर विशेष विचार करने से नींद नहीं आती तो उन विचारों को बंद कर देता है और निद्रा की प्राप्ति कर लेता है। जब कोई लौकिक हानि हो जाती है तो सामान्य व्यक्ति उससे बहुत प्रभावित होता है और दुःख की अनुभूति करता है, परन्तु ध् यान का अभ्यासी व्यक्ति बड़ी-बड़ी हानि होने पर भी उस ओर से अपने मन को हटा लेता है और दुःख से बच जाता है। इस प्रकार से

ध्यान की सिद्धि से आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के लाभ होते हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति नियम पूर्वक ध्यान करके अपने मानव जीवन को सफल बनाए।

ध्यान के साधन

ध्यान की सिद्धि के लिए योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा इन अंगों का पालन करना पड़ता है। इनका पालन किये बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती, इसलिए इन छह अंगों का पालन करना चाहिए।

योग के आठ अङ्गों में आठवाँ अङ्ग - समाधि

ध्यान करते-करते जब अभ्यासी ध्यान की ऊँची अवस्था में पहुँच जाता है तो वह ध्यान ही अपने स्वरूप से शून्य होकर अर्थमात्र को प्रकाशित करता है, अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को दिखाता है, इसका ही नाम 'समाधि' है। ध्यानकाल में साधक वस्तु की गवेषणा में लगा रहता है और गवेषणा करते-करते जब वह वस्तु सामने आती है तो गवेषणा में लगा हुआ योगाभ्यासी उस वस्तु को देखने में लग जाता है, अर्थात् वस्तु का साक्षात्कार प्रधान हो जाता है और ध्यान की स्थिति बंद हो जाती है। इस समाधि के लक्षण से यह नहीं समझना चाहिए कि समाधि अवस्था में योगाभ्यासी ज्ञान से शून्य हो जाता है। समाधि अवस्था में जितना ज्ञान साधक को प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी भी अवस्था में नहीं होता। जब योगाभ्यासी को समाधि अवस्था में वस्तु का साक्षात्कार होता है तो उस वस्तु की प्रधानता हो जाती है और अपनी गौणता हो जाती है। यदि समाधि काल में साधक ज्ञान से शून्य हो जाए तो वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। समाधि अवस्था में वस्तु की प्रधानता और ध्यान की गौणता होती है ऐसा जानना चाहिए।

समाधि के मुख्य दो भेद

समाधि - योग के मुख्य रूप से दो भेद हैं- एक सम्प्रज्ञात और दूसरा असम्प्रज्ञात। इन दोनों के विषय में पूर्व लिखा जा चुका है।

सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञात का साधन है।

समाधि प्राप्त योगी की अनुभूतियाँ

प्रत्येक योग जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि समाधि अवस्था में योगी किस प्रकार का अनुभव करता है। दूसरी बात यह भी मन में आती है कि क्या वास्तव में समाधि में प्राप्त सम्पत्ति सत्य ही है अथवा केवल कहने की बातें हैं। इस प्रकार से जो जिज्ञासा उभरती है अथवा भ्रान्ति उत्पन्न होती है उस का समाधान करने के लिए समाधि अवस्था में योगी को जो अनुभव होता है, उसे सबके लिए उपस्थित किया जाता है।

प्रथम अनुभूति - समाधि को प्राप्त करके जब व्यक्ति उसकी परिपक्व अवस्था में पहुँचता है तो उसकी बुद्धि का बहुत विकास होता है। उस बुद्धि के विकास को प्राप्त करके योगी स्वयं को क्लेशों से मुक्त देखता है और सांसारिक लोगों को क्लेशों से परिपूर्ण देखता है। बुद्धि के स्तर पर योगी, लौकिक मनुष्यों को वैसे ही देखता है जैसे पर्वत के शिखर पर रहने वाला व्यक्ति भूमि पर रहनेवालों को देखता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं एक कारागार-बन्धन से छूटकर स्वतंत्रता के क्षेत्र में पहुँच गया हूँ।

दूसरी अनुभूति - समाधि प्राप्त योगी यह अनुभव करता है कि संसार में जो छोड़ने योग्य वस्तु है, उसे मैंने पूर्णरूप से जान लिया है। संसार में छोड़ने योग्य दुःख है। लौकिक व्यक्ति दुःख के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानता, परन्तु योगी में यह सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि वह दुःख के स्वरूप को ठीक प्रकार से जान सके। संसार में जो प्रत्यक्षरूप से दुःख प्रतीत होता है, उसको तो साधारण मनुष्य भी जानता है। जैसे कि किसी के सिर में चोट लग गई और उसका सिर फूट गया। सिर फूटने से दुःख होता है, उसको सभी जानते हैं, ऐसे दुःख को जानने के लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु इन्द्रियों के विषय भोगों में जो सुख के साथ दुःख मिश्रित रहता है उसे सांसारिक

लोग नहीं जानते, योगी ही उस सुख मिश्रित दुःख को समाधि से प्राप्त ज्ञान के द्वारा जानता है। संसार में जो भी सुख है, उस सुख में दुःख मिश्रित है। जिस सुख में दुःख मिश्रित न हो ऐसा सुख संसार में नहीं मिलेगा। सांसारिक व्यक्ति उस दुःख मिश्रित सुख को अज्ञानता से दुःख रहित समझता है और योगी उस दुःख मिश्रित सुख को दुःख रूप समझता है। दुःख मिश्रित सुख को योगी दुःख मानकर छोड़ देता है।

तीसरी अनुभूति – जो दुःख को उत्पन्न करनेवाले कारण हैं उनके विषय में योगी यह अनुभव करता है कि दुःख कारणों को मैंने इतना निर्बल बना दिया है कि वे अब दुःख उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। जैसे कि गेहूँ के दाने को अग्नि में भून दिया जाए तो वह उत्तम खाद–पानी डालने पर भी अंकुरित नहीं होता वैसे ही दुःख के कारणों को समाधि से प्राप्त ज्ञान से असमर्थ बना दिया जाता है तो विषय के सामने उपस्थित होने पर भी वे दुःख उत्पन्न नहीं कर सकते।

चौथी अनुभूति – में योगी यह समझता है कि असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा मोक्ष का साक्षात्कार अथवा ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है। अब कोई प्राप्त करने योग्य पदार्थ शेष नहीं है कि जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयास किया जाए। इस अवस्था में मुख्य साध्य, जो जीवन का चरम लक्ष्य है, वह पूर्ण हो जाता है। ईश्वरसाक्षात्कार के बिना मानव का चरम लक्ष्य पूर्ण नहीं होता। इसलिए ईश्वर प्राप्ति के पश्चात् यह अवस्था आती है।

पाँचवी अनुभूति – बुद्धि के दो मुख्य कार्य हैं। एक सांसारिक सुख को प्राप्त करवाना दूसरा मोक्ष को प्राप्त करवाना। जब मनुष्य कुछ विद्या की प्राप्ति कर लेता है और शरीर से भी कार्य करने में समर्थ हो जाता है, तो वह सांसारिक सुख और सुख के साधनों को उपार्जित करने में पूर्ण प्रयास करता है। कभी ऐसी स्थिति होती है कि सुख और सुख के साधन कुछ संतोषजनक मिलते हैं और कभी सुख और सुख के साधनों की बहुत न्यूनता रहती है। इन दोनों ही अवस्थाओं में सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति सांसारिक सुख को क्षणिक और उसमें विविध

प्रकार का दुःख मिश्रित देखकर स्थाई और दुःखरहित सुख की गवेषणा करता है। इस गवेषणा का परिणाम विवेक, वैराग्य की प्राप्ति होती है। विवेक, वैराग्य और अभ्यास को उत्पन्न करता हुआ व्यक्ति योग की ऊँची अवस्था तक पहुँचता है। इसके पश्चात् योगी अनुभव करता है कि बुद्धि के जो दो मुख्य कार्य सांसारिक सुख और मोक्ष की प्राप्ति थे वे पूर्ण हो गये हैं, अब बुद्धि का विशेष कार्य नहीं रहा है।

छठी अनुभूति - यह स्थूल शरीर जो कि बार-बार नष्ट होता रहता है, दूसरा सूक्ष्म शरीर जो जीव के साथ जन्म जन्मान्तर में रहता है तथा अन्य सभी कार्य पदार्थों का उपादानकारण सत्त्व-रज-तम हैं। इन्हीं तीन से संसार के छोटे-बड़े सभी पदार्थ बनते हैं अर्थात् समस्त संसार के पदार्थों को बनाने की सामग्री, उपादान कारण ये तीन हैं। समाधि अवस्था में जब योगी यह जान लेता है कि अब मैंने योग के माध्यम से अविद्या, कुसंस्कार, अधर्माचरण, अनुचित उपासना आदि अगला जन्म देनेवाले कारणों को क्षीण कर दिया है, तब वह यह अनुभव करता है कि जो सत्त्व, रज और तम स्थूल व सूक्ष्म शरीर के उपादान कारण हैं अब वे मेरे अगले स्थूल व सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति नहीं कर सकेंगे अर्थात् अब मैं मोक्ष का अधिकारी हो गया हूँ, अतः सत्त्वादि से निर्मित स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ मेरा अगला जन्म नहीं होगा। अब जो मेरे स्थूल और सूक्ष्म शरीर में सत्व, रज और तम हैं ये अपनी साम्यावस्था अर्थात् मूल प्रकृति में चले जाएँगे।

सातवीं अनुभूति - सातवीं अनुभूति में योगी इस प्रकार से विचारता है कि मैं चेतन स्वरूप हूँ और सत्त्व-रज-तम तथा इन तीनों से बनी सभी वस्तुएँ जड़ हैं। इस अवस्था में योगी को अपने चेतन स्वरूप का विशेष परिज्ञान होता है और ईश्वर के स्वरूप का भी विशेष ज्ञान होता है। प्रकृति जड़ है और प्रकृति से बनी हुई सभी वस्तुएँ जड़ हैं। ईश्वर चेतन है, सर्वव्यापक है। सभी जीव एकदेशी हैं, अर्थात् जीव ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक नहीं है। जीव तो इस मानव, पशु आदि शरीर में भी सर्वव्यापक नहीं है, वह तो इस शरीर में एक स्थान पर रहता है। प्रकृति

भी सर्वव्यापक नहीं है। प्रकृति ईश्वर के एकदेश में रहती है। भूमि आदि स्थूल भूतों की अपेक्षा से प्रकृति को व्यापक कहा जाता है, परन्तु वह ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक नहीं है। जीव का, प्रकृति का और प्रकृति से बने सब कार्य पदार्थों का ईश्वर के साथ परस्पर व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है। ईश्वर व्यापक है और जीव, प्रकृति तथा प्रकृति से बने कार्य पदार्थ व्याप्य हैं। इस प्रकार का अनुभव योगी करता है।

इन योग की अनुभूतियों के आधार पर व्यक्ति यह पता लगा सकता है कि मुझे योग की अवस्था प्राप्त हो गई है या नहीं। यदि ये अनुभूतियाँ योगाभ्यासी को उपलब्ध हो गई हैं तो समझना चाहिए कि वह योग की ऊँची अवस्था में पहुँच गया है। इन अनुभूतियों को प्राप्त करके योगी सतत् ईश्वर की उपासना करता है और सांसारिक वस्तुओं की उपासना का परित्याग कर देता है, परन्तु निद्रा अवस्था में योगी की भी ईश्वर उपासना बंद हो जाती है। सांसारिक व्यक्ति की अवस्था से योगी की अवस्था विपरीत होती है। सांसारिक व्यक्ति ईश्वर की उपासना को छोड़ देता है व सतत् सांसारिक वस्तुओं की उपासना करता रहता है। सांसारिक वस्तुओं की उपासना करने से मनुष्य अज्ञान, अधर्म और क्लेशों से परिपूर्ण रहता है और ईश्वर की उपासना करने से ज्ञान, धर्म, आनन्द से परिपूर्ण रहता है। इसलिए मानव जीवन को सफल बनाने के लिए सांसारिक वस्तुओं की उपासना को छोड़कर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।

इस प्रकरण में योग के अन्तरंगों और योगी की अनुभूतियों आदि का वर्णन किया गया है।

प्रत्येक मनुष्य के लिए योग अनिवार्य है

संसार का प्रत्येक प्राणी समस्त क्लेशों-दुःखों-बन्धनों से सर्वथा छूटकर आनन्द-सुख-स्वतन्त्रता को प्राप्त करता चाहता है। यदि समस्त प्राणियों के इस उपर्युक्त प्रयोजन=लक्ष्य को कुछ विस्तार से कहा जाए तो इसे चार विभागों में विभाजित कर सकते हैं एक सुख, दूसरा सुख

का साधन, तीसरा दुःख और चौथा दुःख का साधन। जो व्यक्ति इन चारों को ठीक प्रकार से जानता है और उस ज्ञान के अनुसार आचरण भी करता है तो वह मानव जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सुख और सुख के साधनों को तथा दुःख और दुःख के साधनों को ठीक प्रकार से नहीं जानता वह अपने जीवन के मुख्य प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर सकता। अपनी-अपनी दृष्टि से सभी मनुष्य सदा सुख और सुख के साधनों की इच्छा करते हैं, दुःख ओर दुःख के साधनों की इच्छा कोई भी नहीं करता। परन्तु अज्ञानता के कारण व्यक्ति सुख को दुःख और दुःख को सुख तथा सुख के साधन को दुःख का साधन और दुःख के साधन को सुख का साधन मान लेता है। सुख और सुख के साधनों को तथा दुःख और दुःख के साधनों को चाहे कोई शुद्धरूप में स्वीकार करे अथवा अशुद्धरूप में स्वीकार करे, स्वीकारना अवश्य ही पड़ता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक मनुष्य इन चारों की तन, मन और धन से गवेषणा करता रहता है। जिसको वह अपनी दृष्टि से सुख और सुख का साधन समझता है, उसको प्राप्त करना चाहता है तथा जिसको दुःख और दुःख का साधन समझता है उसको दूर करना चाहता है। इस विषय में किसी भी बुद्धिमान का मतभेद नहीं है। समस्त विश्व की सभी समस्याओं का समाधान इन चारों बातों को ठीक जानने से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है।

सुख का स्वरूप

सुख के विषय में एक प्रश्न उठता है कि क्या सुख एक मानसिक कल्पना है अर्थात् मानने मात्र से सुख प्रतीत होता है, वास्तव में है कुछ भी नहीं। जैसे किसी व्यक्ति ने उत्तम भोजन खाया और उसमें सुख की अनुभूति की। दूसरे व्यक्ति ने भी उत्तम भोजन खाया पर सुख की अनुभूति नहीं की। मानने से सुख प्रतीत होता है और न मानने से सुख प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार से क्या मानने मात्र से ही सुख की सत्ता प्रतीत=ज्ञात होती है अथवा सुख एक तत्व है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी के मानने मात्र से सुख की सत्ता है, ऐसी बात नहीं, किन्तु

सुख एक गुण है। जैसे कि अगिन में विद्यमान 'उष्णता' एक गुण है वैसे ही 'सुख' भी एक गुण है। कल्पनामात्र से सुख की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जब मनुष्य सुखी होता है तो उसकी स्थित भिन्न प्रकार की होती है। सुखी मनुष्य प्रसन्न मुख होता है और दुःखी मनुष्य में वह प्रसन्नता नहीं देखी जाती। सुखी व्यक्ति बलवान् हो जाता है और दुःखी व्यक्ति निर्बल हो जाता है। सुखी मनुष्य की आयु बढ़ती है और दुःखी व्यक्ति की आयु घट जाती है सुखी व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है और दुःखी व्यक्ति रोगी हो जाता है। सुखी व्यक्ति की बुद्धि विकसित होती है और दुःखी व्यक्ति की बुद्धि न्यून हो जाती है। इन अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि सुख एक तत्व है, कल्पना नहीं। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी कार्य करता है, वह सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए ही करता है। यदि सुख कोई तत्त्व ही नहीं है तो सुख के लिए प्रयास करना व्यर्थ है लाखों-करोड़ों लोग इसलिए जीते हैं कि हमें सुख मिलेगा। जब सुख की सत्ता मान ली जाती है, तो उनका सुखप्राप्ति के लिए जीना सार्थक है अन्यथा निरर्थक है। इसलिए सुख एक गुण है, इसका अपना अस्तित्व है, इसको प्राप्त करके मनुष्य वास्तविक सफलता का अनुभव करता है।

सुख किसका गुण है

सुख एक गुण है, यह सिद्ध हो गया। अब विचारणीय है कि सुख किस द्रव्य का गुण है। सुख प्रकृति का गुण है और ईश्वर का भी गुण है। सत्त्व, रज और तम ये समस्त विश्व के कार्य-पदार्थों के उपादान कारण है अर्थात् सभी सूक्ष्म और स्थूल कार्य पदार्थों को बनाने की सामग्री हैं। जैसे कि मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता वैसे ही प्रकृति के बिना संसार की कोई भी वस्तु नहीं बन सकती। भौतिक वैज्ञानिक सत्व, रज और तम का दूसरा नाम रख सकते हैं। वह नाम में भेद होगा, वस्तु में भेद नहीं होगा। जब यह संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् कार्य से कारणरूप में परिवर्तित हो जाता है, सूक्ष्म होते-होते ऐसी अवस्था में चला जाता है कि उसके पश्चात् और सूक्ष्म

नहीं हो सकता, उस समय सत्व, रज और तम अपने कार्यरूप को छोड़कर कारणरूप में चले जाते हैं। उस अवस्था का नाम प्रकृति अथवा प्रधान है। उस प्रकृति को लेकर ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, अर्थात् विविध
ा लोक-लोकान्तरों को और अनेक कार्य पदार्थों को ज्ञानपूर्वक बनाता है। प्रकृति से बने हुए पदार्थों से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। वह सुख प्रकृति का अथवा प्रकृति से बने कार्य पदार्थों का गुण है।

इस सुख को लौकिक सुख भी कहते हैं। इस लौकिक सुख की उत्पत्ति होती है और विनाश भी होता है। उत्पत्ति और विनाश होने से वह लौकिक सुख अनित्य है। जिस लौकिक वस्तु से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है वह वस्तु तीन तत्त्वों = पदार्थों से बनी हुई होती है। तीन तत्त्वों के संयोग के बिना कोई भी कार्य वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए प्रकृति से बनी हुई वस्तुओं में जो सुख गुण है वह प्रकृति का गुण माना जाता है। इसलिए लौकिक सुख प्रकृति का गुण है। ईश्वर में भी सुख गुण विद्यमान है। जो सुख ईश्वर का गुण है वह नित्य है, क्योंकि ईश्वर की कभी उत्पत्ति नहीं होती। जिस वस्तु के तीन उत्पादक कारण होते हैं उसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। जैसे कि घड़े के तीन उत्पादक कारण हैं। एक घड़े को बनाने वाला कर्त्ता - निमित्त कारण, दूसरा घड़े को बनाने की सामग्री (= मिट्टी) उपादान कारण और तीसरा साधन-दण्ड, चाकादि - साधारण कारण। जब ये तीन कारण होते है तब किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। यदि इन तीन कारणों में से एक भी कारण न हो तो घड़े की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि ईश्वर की उत्पत्ति मान ली जाए तो ईश्वर को भी उत्पन्न करने वाले तीन कारणों की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु ईश्वर को उत्पन्न करने वाले तीन कारण किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होते। जो वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होती है, उसी को स्वीकार करना उचित है। जिस प्रकार से जगत् के मूल उपादन कारण प्रकृति की कभी भी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसके उत्पादक तीन कारण नहीं है। इसी प्रकार से ईश्वर के भी तीन उत्पादक कारण नहीं हैं, अतः ईश्वर उत्पन्न नहीं होता। जैसे ईश्वर

के तीन उत्पादक कारण नहीं हैं, वैसे ही उस के तीन विनाशक कारण भी नहीं हैं, अतः ईश्वर का कभी विनाश भी नहीं होता। ईश्वर का जो सुख गुण है, वह न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है, अतः ईश्वर के सुख को नित्य माना जाता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि सुख गुण प्रकृति का भी है और ईश्वर का भी है, परन्तु प्रकृति का सुख क्षणिक और दुःख मिश्रित है जबकि ईश्वर का सुख नित्य और दुःख रहित है।

ईश्वरीय सुख की विशेषता

ईश्वर का सुख सभी दोषों से रहित है। ईश्वर का सुख क्षणिक नहीं है किन्तु नित्य है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार मनुष्य लौकिक सुख को स्थिर रखना चाहता है पर उसके स्थिर न रहने से अत्यन्त दुःखी होता है, वैसे ईश्वर के सुख से व्यक्ति को दुःख नहीं होता, क्योंकि ईश्वर का सुख नित्य ही रहता है। जिस प्रकार से सांसारिक सुख की सिद्धि के लिए बहुत धन-सम्पत्ति व विविध प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है, वैसी आवश्यकता ईश्वर के सुख को प्राप्त करने में नहीं होती। लौकिक सुख के भोगने से मनुष्य की तृष्णा बढ़ती जाती है परन्तु ईश्वर के नित्यानन्द को भोगने से तृष्णा की परिसमाप्ति हो जाती है। जैसे लौकिक सुख भोगने वाला व्यक्ति अन्याय पूर्वक अपने सुख और सुख साधनों की सिद्धि करता है, वैसे ईश्वर का सुख भोगने वाला व्यक्ति नहीं करता। सांसारिक सुख के भोगने से मनुष्य रोगी हो जाता है और उससे दुःख होता है। ईश्वर का सुख भोगने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहता है और उसके उत्तम परिणाम होते हैं। सांसारिक सुख भोगने से मनुष्य की आयु अल्प हो जाती है और ईश्वर का सुख भोगने से आयु दीर्घ हो जाती है। सांसारिक सुख भोगने से मनुष्य मन और इन्द्रियों का दास बन जाता है और ईश्वर का सुख भोगने से मनुष्य मन और इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। लौकिक सुख को भोगने से मनुष्य स्वार्थी बन जाता है और अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों की धन-सम्पत्ति को अन्यायपूर्वक छीन लेता है। ईश्वर का आनन्द

भोगनेवाला व्यक्ति निष्काम-भावना से अपने सम्पूर्ण तन-मन-धन को दूसरों का उपकार करता है और स्वयं विविध दु:ख उठाकर भी अन्यों को सुख देने का प्रयास करता है। लौकिक सुख भोगने से व्यक्ति असत्यमानी, असत्यवादी और असत्यकारी बन जाता है परन्तु ईश्वर के नित्य सुख को भोगनेवाला व्यक्ति सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी बन जाता है। सांसारिक सुख भोगने से व्यक्ति प्रेमभाव को छोड़कर परस्पर झगड़ें उत्पन्न कर विघटन की स्थापना करता है, जबकि ईश्वर के आनन्द का अनुभव करने वाला व्यक्ति वैरभाव छोड़कर परस्पर प्रेम पूर्वक रहता है और समस्त संसार में संगठन की स्थापना करना चाहता है। इस प्रकार जितने भी अशुभ कर्म जैसे चोरी, डाके, मिलावट, बलात्कार, झगड़े, परस्पर विरोध, बड़े-बड़े युद्ध समस्त कुरीतियों आदि इन सब अशुभ कर्मों का कारण सांसारिक सुख है। जो मनुष्य ईश्वर के नित्य सुख को छोड़कर, केवल सांसारिक सुख को अंतिम साध्य बनाकर चलेगा, वह कभी भी अज्ञान, अन्याय और क्लेशों से नहीं बच सकेगा, इसलिए प्रत्येक मनुष्य का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि सांसारिक सुख को अपने जीवन का लक्ष्य न बनाकर ईश्वर के नित्यानन्द को ही अपना लक्ष्य बनाये।

सुख के कारण

प्रथम कारण विवेक - विवेक का अभिप्राय है अनित्य वस्तुओं को अनित्य जानना इस विषय में उदाहरण पूर्व लिखा जा चुका है। अशुद्ध वस्तुओं को अशुद्ध जानना और शुद्ध वस्तुओं को शुद्ध जानना, सुख को सुख जानना और दु:ख को दु:ख जानना, जड़ को जड़ जानना और चेतन को चेतन जानना विवेक कहलाता है। जो व्यक्ति विवेक के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानता है वही सांसारिक सुख और ईश्वर के नित्यानन्द को प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं।

दूसरा कारण धर्माचरण-न्यायाचरण - जो व्यक्ति धर्माचरण के स्वरूप को अच्छी प्रकार से जान लेता है और उसका आचरण मन, वाणी और शरीर से करता है, वही मनुष्य लौकिक और ईश्वर के

आनन्द का भागी होता है, अन्य नहीं।

तीसरा कारण शुद्धोपासना – अर्थात् ईश्वर की उपासना=योगाभ्यास। जो व्यक्ति शुद्धोपासना के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानता है, वही वास्तविक सुख को प्राप्त करता है, अन्य नहीं।

चौथा कारण शुद्ध संस्कार – जो मनुष्य संस्कार के स्वरूप को समझ लेता है तथा अशुद्ध संस्कारों को मिटाने और शुद्ध संस्कारों को उत्पन्न करने में निपुण हो जाता है, वही वास्तविक सुख को प्राप्त करता हे, अन्य नहीं।

पाँचवा कारण अपने आत्मा के तुल्य दूसरों के सुख–दुःख, हानि–लाभ को समझना – अर्थात् जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने लिए सदा सुख चाहता है, दुःख कभी भी नहीं चाहता, स्वयं बलवान्, धनवान, विद्वान, स्वतन्त्र होना चाहता है, इसके विपरीत नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी आत्मा के तुल्य प्राणिमात्र का कल्याण चाहता है, वही सभी बन्धनों से छूटकर मोक्ष का अधिकारी बनता है, अन्य नहीं।

दुःख का आधार व स्वरूप

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि दुःख गुण किस द्रव्य का है और उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दुःख गुण प्रकृति का है। दुःख का स्वरूप–बाधा, पीड़ा, क्लेश, बन्धन, पराधीनता, अशान्ति और जिससे व्यक्ति का बल, बुद्धि, आयु न्यून हो वह 'दुःख' है। जिन वस्तुओं से मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है, वे सभी वस्तुएँ प्रकृति से अर्थात् सत्त्व, रज, तम से बनी हुई हैं। प्रकृति उन सभी वस्तुओं का कारण है और वे सभी वस्तुएँ प्रकृति का कार्य हैं। कारण के गुण कार्य में आते हैं अतः उन कार्य वस्तुओं से मिलने वाला दुःख, कारण प्रकृति का गुण है। सत्त्व, रज, तम ये तीन तत्त्व मिलकर किसी वस्तु का उपादान कारण बनते हैं। उस वस्तु के उत्पन्न होने पर वह किसी प्राणी को सुख व दुःख दे सकती है। सुख व दुःख की प्राप्ति किसी एक सत्त्व या रज या तम से नहीं होती। जब यह संसार प्रलय अवस्था में

चला जाता है तथा सत्त्व-रज-तम अपनी साम्यावस्था में रहते हैं उस समय सुख गुण सत्त्व पदार्थ में रहेगा और दुःख गुण रज पदार्थ में रहेगा। इस दृष्टि से देखने पर सुख गुण सत्त्व का है और दुःख गुण रज का है ऐसा जानना चाहिए। जिस प्रकार से प्रकृति से बने पदार्थों में सुख गुण रहता है और वह अनित्य है, उसी प्रकार दुःख गुण भी प्रकृति से बने पदार्थों में रहता है और वह अनित्य है। इससे यह भी सिद्ध हो गया है कि दुःख गुण न ईश्वर का है न जीव का है। इन भिन्न-भिन्न गुणों के आधार पर ईश्वर, जीव और प्रकृति, ये तीनों पदार्थ तीनों कालों में एक दूसरे से पृथक रहते हैं अर्थात् एक दूसरे में घुलते मिलते नहीं हैं। यहाँ पर यह बात भी ज्ञातव्य है कि सुख और दुःख जीवात्मा के नैमित्तिक गुण हैं, स्वाभाविक गुण नहीं, इस बात का अन्य लेख में विस्तार से प्रमाण सहित प्रतिपादन किया हैं इसे इस लेख के प्रकाशित होने पर वहीं देख लेवें।

विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान ईश्वर की प्राप्ति से ही हो सकता है, सांसारिक सुख की प्राप्ति से नहीं। संसार में प्रत्येक मनुष्य की समस्याएँ हैं। प्रथम समस्या यह है कि वह पूर्ण रूपेण दुःख से छूटना चाहता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त मनुष्य तन-मन और ध्‍ान से, दुःख से छूटने का पूर्ण प्रयास करता है, परन्तु इतना परिश्रम करने पर भी वह पूर्ण रूपेण दुःख से नहीं छूटता, क्योंकि उसको दुःख से छूटने के उपायों का ठीक परिज्ञान नहीं होता। दूसरी समस्या यह कि मनुष्य सदा सुख प्राप्ति का प्रयास करता है। वह ऐसे सुख को ढूँढ़ता है कि जो स्थायी हो अर्थात् जिसका विनाश कभी भी न हो। मनुष्य ऐसे सुख को भी नहीं चाहता जिसमें दुःख मिश्रित हो। इसलिए वह नित्य और दुःख रहित सुख की प्राप्ति करने का पूर्ण प्रयास करता है। इन दोनों समस्याओं का समाधान सांसारिक सुख और सुख के साधनों से संभव नहीं है। सृष्टि के आदि से लेकर आज तक कोई भी व्यक्ति लौकिक सुख और सुख के साधनों से इन दोनों समस्याओं का समाधान नहीं कर सका तथा आगे भी कोई नहीं कर सकेगा, क्योंकि सांसारिक

सुख और सुख के साधन उत्पन्न होने वाले और नाशवान् हैं तथा जहाँ पर लौकिक सुख रहता है वहाँ पर दुःख भी रहता है। इसी कारण से कहा जाता है कि संसार में नित्य और दुःख रहित सुख नहीं है।

उदाहरण – जब कोई व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन का एक ग्रास मुख में रखता है तो प्रारंभ में वह ग्रास बहुत सुखदायक प्रतीत होता है, परन्तु दो–चार बार चबाने के पश्चात् उससे मिलनेवाला सुख न्यून हो जाता है। यदि उस ग्रास को कुछ चबाकर मुख में ही रोक लिया जाए तो उससे मिलने वाला सुख नितान्त समाप्त हो जाएगा और खानेवाला व्यक्ति उस ग्रास को निगलना नहीं चाहेगा, किन्तु थूकना चाहेगा। इस प्रकार से प्रत्येक स्वादिष्ट भोजन की यही स्थिति है कि देखते–देखते कुछ ही काल में उसका सुख समाप्त हो जाता है। भोजन खानेवाला मनुष्य यही चाहता है कि भोजन से मिलनेवाला सुख सदा ज्यों–का–त्यों बना रहे, परन्तु उसकी इच्छा के अनुसार वह सुख सदा नहीं रह सकता, अतः उसे बहुत दुःख होता है। इसी प्रकार से नेत्रेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, त्वचा इन्द्रिय व घ्राणेन्द्रिय के द्वारा मिलनेवाला सुख की स्थिति है। पाँचों इन्द्रियों से मिलनेवाले सुख को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति महान् परिश्रम करता है और उस सुख को स्थायी रखना चाहता है, परन्तु उसे स्थायी रखने की उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। इच्छा के विरूद्ध कार्य होने से वह सदा सन्तप्त रहता है। इस प्रकार से सुख के स्थान पर दुःख की उपलब्धि होती रहती है, फलतः व्यक्ति का प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता।

मनुष्य की यह अभिलाषा सदा बनी रहती है कि मुझे ऐसा सुख मिले जिसमें किसी भी प्रकार का दुःख मिश्रित न हो, परन्तु संसार में ऐसा सुख है ही नहीं कि जिसमें किसी भी प्रकार का दुःख मिश्रित न हो। श्री पतञ्जलि ऋषि की मान्यता के अनुसार संसार के प्रत्येक सुख में चार प्रकार का दुःख मिश्रित रहता है। वह चार प्रकार दुःख है– परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्तिविरोध दुःख।

पहला परिणाम दुःख

प्रत्येक मनुष्य पाँच इन्द्रियों के द्वारा विषय भोग इसलिए करता है कि मुझे पूर्ण सुख की प्राप्ति होगी और मेरा समस्त दुःख सदा के लिए समाप्त हो जाएगा, परन्तु यह कार्य उसकी इच्छा से विपरीत होता है। इन्द्रियों के विषयों का भोग विषय भोग की इच्छा को समाप्त करने के लिए किया जाता है और परिणाम यह होता है कि विषयों के भोग करने की इच्छा और तीव्र हो जाती है। जैसे कि किसी के घर में अग्नि लग जाए और उस अग्नि को शांत करने के लिए भूल से मिट्टी के तेल से भरे कनस्तर को पानी समझकर उस अग्नि में डाल दिया जाए तो अग्नि शांत नहीं होती किन्तु अत्यन्त तीव्र होकर घर को शीघ्र ही समाप्त कर देगी। इसी प्रकार विषय भोगों को भोगने से विषय भोग की तृष्णा शांत नहीं होती, किन्तु व्यक्ति को ही समाप्त कर देती है। इस विषय में सांख्यदर्शनकार कपिलाचार्य कहते हैं कि 'न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत्' (4/27) भोगों को भोगने से राग शांत नहीं होता मुनि के समान। एक सौभरि मुनि नाम व्यक्ति ने अपने राग को शांत करने के लिए सांसारिक भोगों को भोगना प्रारंभ किया और अपने सम्पूर्ण जीवन में पूर्ण रूप से भोगों को भोगता रहा, परन्तु अपने विषय-भोग की इच्छा को शांत न कर सका। अन्त में उसने यह घोषणा की कि मैंने अच्छी प्रकार से अनुभव कर लिया है कि भोगों के भोगने से विषय भोगों की इच्छा शांत नहीं होती। भर्तृहरि जी ने भी इस विषय में अपना अनुभव सुनाया है कि "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः" हमने भोगों को नहीं भोगा किन्तु भोगों ने ही हमको भोग लिया। श्री व्यासजी ने योग दर्शन का भाष्य करते हुए लिखा है कि विषय भोगों में सुख समझना अविद्या है। अर्थात् अविद्या के कारण ही विषय भोगों में मनुष्य सुख समझता है। वास्तव में विषय भोगों में विशुद्ध सुख नहीं है, किन्तु दुःख मिश्रित सुख है। बुद्धिमान् मनुष्य दुःख मिश्रित सुख को भी दुःख मानकर छोड़ देता है। परिणाम दुःख में यह बात भी समझनी चाहिए कि लौकिक सुख को चाहनेवाला मनुष्य राग के कारण अनेक दोषों से युक्त होता है। जो-जो जड़ और चेतन पदार्थ उसके सुख में साधन है, उनसे प्रेम करता है और

उनकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए अन्याय पूर्वक दूसरों की हानि करता है। राग से प्रेरित होकर अन्याय पूर्वक किये हुए कार्यों का फल ईश्वर की व्यवस्था से महा दुःख रूप में पशु, पक्षी, कीट, पतंग, आदि विविध योनियों में भोगता है। यह है परिणाम दुःख।

दूसरा ताप दुःख

लौकिक सुख भोगने में जो-जो जड़ या चेतन पदार्थ बाधा डालते हैं अथवा दुःख देते हैं उनसे व्यक्ति द्वेष करता है तथा उन दुःखदायक पदार्थों को उचित या अनुचित उपायों से समाप्त कर देना चाहता है। जो कोई भविष्य में दुःख दे सकता है, उसको भी जीवित देखना नहीं चाहता। इससे द्वेषज कर्म उत्पन्न होते हैं और इन कर्मों का दुःखरूप फल ईश्वर की ओर से पशु, पक्षी आदि विविध योनियों में भोगना पड़ता है। जब तक मनुष्य संसार में जीवित रहता है तब तक कोई न कोई दुःख उसे मिलता रहता है। उस दुःख के कारण मनुष्य सदा दुःख देने वालों से द्वेष करता रहता है और द्वेष का परिणाम दुःख होता है जिसे इस जन्म में अथवा अगले जन्मों में भोगता है। यह ताप दुःख है।

तीसरा संस्कार दुःख

सुख भोगने से सुख के संस्कार और दुःख भोगने से दुःख के संस्कार बन जाते हैं। जो सुख का अनुभव हुआ है और जिस वस्तु के संयोग से सुख मिला है, संस्कार उसी सुख ओर सुखदायक वस्तु की प्राप्ति के लिए उत्तेजना उत्पन्न करता है। यदि प्रयास करने पर भी वह सुख और सुख का साधन न मिले तो मनुष्य अत्यन्त दुःखी होता है। जैसे कि कोई व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनेक प्रकार के साधनों से सम्पन्न रहा हो और उसने पाँचों इन्द्रियों के भोग खूब भोगे हों। कालान्तर में किन्हीं कारणों से वह व्यक्ति साधन हीन हो जाए तो पूर्वकाल में भोगे सुख और सुख साधनों के संस्कार स्मृति को उत्पन्न करते हैं। उन सुख और सुख साधनों के न मिलने पर उसे बहुत दुःख होता है। उस दुःख को हटाने के लिए वह व्यक्ति उचित व अनुचित सभी कार्यों को

११०
110

करने में प्रवृत्त हो जाता है और इस प्रवृत्ति के कारण संस्कारज कर्माशय उत्पन्न होता है। इस पाप-पुण्य-मिश्रित कर्म समुदाय से पशु-पक्षी-कीट आदि योनियों में जीव, ईश्वर की व्यवस्था से भयंकर दुःखों को भोगता है। यह संस्कार दुःख है।

इस प्रसंग में यह समझना चाहिए कि यदि पाप और पुण्य दोनों समान होते हैं तो ईश्वर जीव को साधारण मनुष्य का जन्म देता है, और यदि पाप अधिक और पुण्य न्यून होते हैं तो ईश्वर जीव को पशु आदि योनियों में भेजता है और यदि पुण्य अधिक ओर पाप न्यून होते हैं तो ईश्वर जीव को ऊँचे मनुष्य शरीर में भेजता है अर्थात् धार्मिक, विद्वान्, संयमी, ईश्वरोपासक, परोपकारी और साधन सम्पन्न माता-पिता के घर में जन्म देता है, परन्तु ईश्वर-प्राप्ति किये बिना पूर्णरूपेण दुःख की परिसमाप्ति वहाँ पर भी नहीं होती, अतः योगाभ्यास से ईश्वर को प्राप्त करना ही पड़ता है।

चौथा गुणवृत्तिविरोध दुःख

सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं अर्थात् तीन प्रकार के पदार्थ हैं। सांख्य दर्शन की भाषा में इनको गुण भी कहते हैं। इन तीनों गुणों-द्रव्यों में परस्पर भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं। जैसे कि सत्व का स्वभाव सुख, रज का स्वभाव दुःख और तम का स्वभाव अज्ञान है। जब सत्व की प्रधानता होती है और रज तथा तम गौण होते हैं तो मनुष्य को सुख की अनुभूति होती हैं जब रज की प्रधानता होती है और रज तथा तम गौण होते हैं तो मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। जब रज की प्रधानता होती है और सत्व तथा तम गौण होते हैं तो दुःख की अनुभूति होती है। जब तम की प्रधानता होती है और सत्व तथा रज गौण होते हैं तो अज्ञान की अनुभूति होती है। इस प्रकार से इन गुणों के व्यवहार में परस्पर विरोध होने से जीवात्मा को स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होती। जीव यह चाहता हुआ भी कि मुझे नींद न आए पुनरपि वह नींद को रोक नहीं सकता। नींद के न रूकने से समाधि भंग हो जाती है और समाधि से मिलने वाले सुख की परिसमाप्ति हो जाती है। जब तक जीव

का संबंध इन तीन गुणों से बना रहेगा तब तक जीव समस्त दुःखों से छूटकर पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता, यह है गुणवृत्तिविरोध दुःख।

परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख ओर गुणवृत्तिविरोध दुःख के कारण विवेकी मनुष्य के लिए तो संसार का सुख भी दुःख ही है। इसी कारण से योगी लोग संसार के सुख को हेय मानते हैं। जो लोग आत्मा, परमात्मा और योग विद्या को नहीं जानते वे सांसारिक सुख को उपादेय-ग्रहण करने योग्य मानते हैं और उसी को अंतिम या सर्वोच्च सुख समझते हैं। वे ईश्वर में नित्य और पूर्ण सुख की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते, इसी मान्यता के कारण वे दुःखों से छूटकर नित्य आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाते।

दुःख से मुक्त कौन हो पाता है।

वेद की दृष्टि में दुःख से छूटकर नित्यानन्द को कौन प्राप्त होता है? वेद में इस विषय का निर्णय दिया है कि कौन व्यक्ति सम्पूर्ण दुःख से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त करता है।

वेदाहमेतं पुरूषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(यजु. 31/18)

एक महान् विद्वान् योगी जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया है वह कहता है कि (वेदाहमेतं पुरूषं महान्तम्) मैं इस महापुरूष ईश्वर को जानता हूँ (आदित्य वर्ण) जैसे आदित्य-सूर्य अन्धकार का विनाश करनेवाला है, वैसे ही ईश्वर भी अपने ज्ञान से अज्ञान का विनाश करनेवाला है और (तमसः परस्तात्) अज्ञान से सदा पृथक् रहता है (तमेव विदित्वाति मृत्युमेति) उसी ईश्वर को जानकर मनुष्य मृत्यु-जन्म आदि सभी दुःखों से पार हो जाता है-छूट जाता है (नान्यः पन्था विद्यते अयनाय) पूर्णानन्द प्राप्ति के लिए और कोई भी मार्ग नहीं है। वेद में ईश्वर ने जो आदेश दिया है वह सत्य ही है, क्योंकि वेद ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है और ईश्वर सर्वज्ञ है। वह कभी भी भूल नहीं करता, अतः ईश्वर का आदेश सभी

मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिए।

दु:ख के कारण

दु:ख को दूर करने के लिए दु:ख के कारण का स्वरूप क्या है यह जानना आवश्यक है। इसे जाने बिना दु:ख को दूर नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य दु:ख के कारण को अच्छे प्रकार से जान लेता है तो उसे दु:ख के साधनों को जानने में सरलता हो जाती है। संसार के सभी प्राणी दु:ख से छूटना चाहते हैं परन्तु लाखों, करोड़ों में एक भी व्यक्ति दु:ख के कारण को अच्छी प्रकार से नहीं जानता। दु:ख के कारण को जाने बिना और उसे दूर किये बिना कोई भी मनुष्य दु:ख से नहीं छूट सकता। क्योंकि कारण को दूर किये बिना कार्य को दूर नहीं किया जा सकता। वैशेषिक दर्शनकार कणाद ऋषि ने कहा है कि 'कारणाभावात्कार्याभाव:' कारण का अभाव होने से कार्य का अभाव होता है।

दु:ख का प्रथम कारण अविवेक - अविवेक का अभिप्राय है विपर्यज्ञान-मिथ्याज्ञान-विपरीतज्ञान। अविवेक को चार वर्गों में विभक्त किया जाता है। पहला अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना। जैसे कि शरीर, भूमि, सूर्य आदि अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना और ईश्वर, जीव, प्रकृति इन नित्य पदार्थों को अनित्य समझना। दूसरा अशुद्ध वस्तुओं व कर्मों को शुद्ध समझना तथा शुद्ध वस्तुओं और कर्मों को अशुद्ध समझना। जैसे कि शरीर, असत्यभाषण, चोरी आदि को शुद्ध समझना और परमात्मा, सत्यभाषण आदि को अशुद्ध समझना। तीसरा दु:ख को सुख और सुख को दु:ख समझना। जैसे कि पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों के अत्यन्त भोग में सुख समझना और नित्य ईश्वर के आनन्द में दु:ख समझना। चौथा जड़ वस्तुओं को चेतन समझना और चेतन वस्तुओं को जड़ समझना। जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि प्रकृति से बने सभी कार्यों को तथा प्रकृति को चेतन समझना। जीव एवं ईश्वर को जड़ समझना। यह है अविवेक-अविद्या का स्वरूप। यह अविवेक ही समस्त अन्याय, कुरीतियों और सभी दु:ख बन्धनों का मुख्य कारण है। जो

व्यक्ति अविवेक के स्वरूप को जान लेता है और उसका विनाश कर देता है, वह अन्याय, असत्याचरण, कुरीतियों और क्लेशों-दुःखों से छूट जाता है अन्य नहीं।

दूसरा कारण असत्याचरण-अधर्माचरण-अन्यायाचरण - जिस आचरण से अर्थात् जिस कार्य के करने से, करने वाले को और दूसरों को भी दुःख मिले, अपनी और अन्यों की हानि हो, वह अधर्म है-असत्य है-अन्याय है। अथवा जो कार्य ईश्वर की आज्ञा से विरूद्ध है वही अधर्म-असत्य-अन्याय है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि जिस कार्य के करने से अपनी और अन्यों की लौकिक सुख और मोक्षसुख अर्थात् ईश्वर के नित्यानन्द की हानि हो अर्थात् वह आनन्द जीवों को नहीं मिले, वही अधर्म है-असत्य है-अन्याय है। अन्यायाचरण दुःख कारण है। जो व्यक्ति अन्याय के स्वरूप को नहीं जानता और उसका परित्याग नहीं करता वह दुःख से कदापि नहीं छूट सकता और न अन्यों को छुड़ा सकता है।

तीसरा कारण अशुद्ध उपासना - जो मनुष्य उपासना के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानता और अशुद्ध उपासना का परित्याग नहीं करता, वह दुःख से नहीं छूट सकता। जैसे कि ईश्वर की शुद्ध उपासना को छोड़कर सांसारिक वस्तुओं की उपासना करना। इसी को अशुद्ध उपासना कहते हैं।

चौथा कारण कुसंस्कार = अशुद्ध संस्कार = मिथ्यावासना - जो व्यक्ति अशुद्ध संस्कारों को अर्थात् मिथ्या वासनाओं को नहीं जानता तथा शब्दज्ञान से जानकर भी उन्हें दूर नहीं करता, वह दुःख से नहीं छूट सकता।

पाँचवाँ कारण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा - जो व्यक्ति इन तीनों एषणाओं के स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानता और अपने सर्वसामर्थ्य से इनका परित्याग नहीं कर सकता, वह दुःख से नहीं छूट सकता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति दुःख के कारणों को ठीक प्रकार से जाने और उनको दूर करने में पूर्ण परिश्रम करे। ऐसा करने से ही अपना

जीवन और दूसरों का जीवन सफल बनाया जा सकता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार से जो मनुष्य दुःख और दुःख के वास्तविक कारण को जानता है, वही सभी दुःखों से छूटकर मोक्ष-मुक्ति-अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है, मोक्ष प्राप्ति करके लम्बे काल पर्यन्त ईश्वर के नित्यानन्द को भोगता है और स्वतन्त्र विचरता है। जब मोक्ष की अवधि पूर्ण हो जाती है तो अपने शेष पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार साधारण मनुष्य का जन्म लेता है। मोक्ष-प्राप्त करने के पश्चात् भी जीव के पाप-पुण्य शेष रह जाते हैं, उन्हीं के आधार पर वह मनुष्य का जन्म लेता है। यदि मोक्षावस्था में जीव के पाप-पुण्य शेष न रहें तो मनुष्य जन्म नहीं मिल सकता, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता। यदि ईश्वर बिना कर्मों के मनुष्य का जन्म देने लग जाए तो पशु, पक्षी, कीट, आदि को भी मनुष्य जन्म क्यों न दे दे। वस्तुतः कर्मों के आधार पर ही मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि जन्म मिलते हैं और मोक्ष भी ज्ञान, कर्म, उपासना के आधार पर ही मिलता है। यदि बिना कारण के ईश्वर किसी को मनुष्य और किसी को पशु, पक्षी आदि योनि देने लग जाए तो वह अन्यायकारी हो जाए। इसलिए जिस जीव के ज्ञान, कर्म और उपासना जैसे हैं, अर्थात् अच्छे हैं तो अच्छा जन्म, बुरे हैं तो बुरा जन्म देता है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर को प्राप्त करके अर्थात् मुक्ति प्राप्त करके जीव पुनर्जन्म लेता है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोक्ष प्राप्त करके जीव पुनर्जन्म लेता है, क्योंकि जिस ज्ञान, कर्म और उपासना से मुक्ति होती है, वे ज्ञान, कर्म और उपासना सीमित हैं। जब सीमित हैं तो उनका फल मुक्ति भी सीमित ही होगा। यदि उनका फल असीमित दे देवे तो ईश्वर अन्यायकारी हो जाए। यदि ईश्वर बिना कर्मों के जीवों को फल देने लग जाए तो कर्म करने की आवश्यकता ही न रहे।

दूसरा दोष मुक्ति से पुनर्जन्म न मानने पर यह भी है, कि यदि जीव मुक्ति में जाते रहेंगे और पुनः संसार में जन्म नहीं लेंगे तो संसार समाप्त हो जाएगा। यदि मुक्ति में जानेवाले जीव वहाँ से लौटकर न

आते तो आज संसार में जीव न मिलते। इसलिए सत्य बात यही है कि जीवात्मा अपने सीमित ज्ञान, कर्म और उपासना से सीमित मुक्ति के आनन्द को भोगकर अपने शुभ और अशुभ कर्मों के आधार पर पुनःजन्म लेता है।

मुक्ति में जीव की स्थिति

इस प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि मुक्ति में जीव ईश्वर में मिल जाता है वा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुक्ति में जीव ईश्वर में नहीं मिलता, पृथक् रहता है, क्योंकि जो वस्तु संयोग से उत्पन्न होती है वही किसी दूसरे पदार्थ में मिलती है। ईश्वर और जीव ये दोनों किसी के संयोग से उत्पन्न नहीं होते, इसलिए ये कभी भी परस्पर मिलकर एक नहीं होते।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि मुक्ति की अवधि कितनी है?

इस प्रश्न का उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रकार दिया है कि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष पर्यन्त यह सृष्टि बनी रहती है और इतने ही काल तक बिगड़ी रहती है। सृष्टि के स्थिति एवं प्रलय काल को मिलाने से आठ अरब चौसठ करोड़ वर्ष बनते हैं। आठ अरब चौसठ करोड़ को छत्तीस सहस्त्र से गुणा करने पर इकत्तीस नील, दस खरब और चालीस अरब वर्ष होते हैं। यही इतनी लंबी मुक्ति की अविध है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मुक्ति ही होना चाहिए, सांसारिक सुख नहीं। बिना मुक्ति के मनुष्य पूर्णरूपेण दुःखों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त नहीं कर सकता, अतः प्रत्येक मनुष्य को स्वयं मोक्ष को प्राप्त करना और अन्यों को कराना चाहिए। इसे प्राप्त न करना-करवाना अत्यन्त हानिकारक है।

....

सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार

समाप्त

सुख-दु:ख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण व धर्म मानने में निम्नलिखित दोष आते हैं।

प्रथम दोष - सुख-दु:ख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण मानने वालों ने अब तक वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों का एक भी ऐसा प्रमाण नहीं दिया है, जिससे यह सिद्ध होता हो, कि सुख-दु:ख जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं। वे हम से पूछ सकते हैं कि सुख-दु:ख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण न मानने में क्या प्रमाण हैं? इसका उत्तर यह है कि सांख्यदर्शनकार ने कहा है, कि यदि जीवात्मा स्वभाव से बद्ध है, अर्थात् सुख-दु:ख उसका स्वाभाविक गुण है, तो मोक्ष शास्त्रों में दु:ख से नितान्त छूटने का उपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी पदार्थ के स्वाभाविक गुण को उससे पृथक नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि का स्वाभाविक गुण उष्णता है, उस उष्णता को अग्नि से पृथक नहीं किया जा सकता। सांख्यकार कपिलाचार्य ने तीन प्रकार के दु:खों से नितान्त छूटने के लिए ही सांख्यदर्शन की रचना की है। सांख्यदर्शन के किसी भी सूत्र में यह नहीं लिखा कि दु:ख गुण जीवात्मा का स्वाभाविक है।

दु:ख को स्वाभाविक गुण मानने वाले इसका उचित समाधान करें। इस विषय में सांख्यदर्शन के प्रमाण पूर्व लेखों में हमारी ओर से दिये जा चुके हैं, यहाँ पर उन्हें पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं है। सांख्यकार ने सम्पूर्ण दर्शन तीन प्रकार के दु:खों की अत्यंत निवृत्ति के लिए ही लिखा है। यदि सांख्यकार कपिल सुख-दु:ख को जीवात्मा का स्वाभाविक गुण मानते, तो तीन प्रकार के दु:खों की अत्यंत-निवृत्ति न लिखते। सुख-दु:ख को आत्मा के स्वाभाविक गुण मानने वाले इसका उचित और सप्रमाण उत्तर देवें।

दूसरा दोष - न्यायदर्शनकार गौतम ऋषि ने प्रथम दु:ख का लक्षण बताया, कि बाधा पीड़ा जिसका स्वरूप है, वह दु:ख है। उस बाधा रूप

११७

दुःख से अत्यन्त छूट जाना मोक्ष है। यदि गौतम ऋषि दुःख को जीवात्मा का स्वाभाविक गुण मानते, तो वे यह न लिखते कि दुःख से अत्यन्त छूट जाने का नाम मोक्ष है। सुख-दुःख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण मानने वाले न्यायदर्शन के आधार पर इसका उचित उत्तर देवें।

तीसरा दोष - यह है कि अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए 'अत्यंत' शब्द का अर्थ जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने किया है, उसके नितान्त विपरीत अर्थ करते है। स्वामी जी ने अत्यंत शब्द का अर्थ यह किया है- जीवात्मा को जो मोक्ष की प्राप्ति होती है वह अनन्तकाल के लिए नहीं होती। उस मोक्ष की सीमा है। जीव के कर्म सीमित हैं, तो उनका फल मोक्ष भी सीमित होना चाहिए। स्वामी जी ने 'अत्यंत' शब्द का अर्थ यह नहीं किया कि मोक्ष अवस्था में दुःख शेष रहता है। अतः 'अत्यंत' शब्द के अर्थ को लेकर अपने पक्ष की पुष्टि करने वाले यह बतलावें, कि स्वामी जी ने कहाँ लिखा है, कि मोक्ष अवस्था में दुःख शेष रहता है।

चौथा दोष - यह है कि योगदर्शनकार ने कहा है कि जो अनागत दुःख है, वह छोड़ने योग्य है। यहां दुःख गुण अभी अनागत है, आया नहीं है, भविष्य में आयेगा। यदि दुःख गुण जीवात्मा का स्वाभाविक है, तो वह अनागत नहीं हो सकता। और यदि 'अनागत' है तो स्वाभाविक नहीं हो सकता। योगदर्शन के आधार पर इसका उचित उत्तर देवें।

पाँचवाँ दोष - यह है कि छान्दोग्य उपनिषद् प्रपा 8, ख. 12, प्रवाक 1 में कहा है कि मोक्ष अवस्था में जीवात्मा को सांसारिक सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। यदि सुख-दुःख जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं तो वे जीवात्मा से कभी भी दूर नहीं हो सकते और यदि दूर होते हैं तो स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते। सुख-दुःख को जीव का स्वाभाविक गुण मानने वाले यह कहते हैं, कि मोक्ष अवस्था में सुख-दुःख मोक्षानन्द के नीचे दब जाते हैं, अतः दिखाई नहीं देते। यह उनकी मान्यता शब्दप्रमाण के विरूद्ध हैं, क्योंकि शब्दप्रमाण में यह माना है, कि मोक्ष अवस्था में सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव होता है। अतः उनका समाधान उचित

नहीं है। यह केवल उनकी अपनी मान्यता है।

छठा दोष - यह है कि वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में यह उपदेश मिलता है, कि दुःख छोड़ने योग्य है। यदि दुःख जीवात्मा का अपना स्वाभाविक गुण माना जाये तो जीवात्मा का अपना ही स्वरूप छोड़ने योग्य हुआ जो आर्ष सिद्धान्तों के सर्वथा विरूद्ध है। इस दोष का प्रमाण से उचित समाधान करें।

सातवाँ दोष - यह है कि जो सुख, दुःख मिश्रित है, उसको ऋषियों ने छोड़ने का उपदेश किया है। यदि सुख गुण जीवात्मा का स्वाभाविक माना जाये तो जीवात्मा का स्वरूप ही छोड़ने योग्य हुआ। यह भी ऋषि ग्रन्थों के विरूद्ध है। इसका समाधान भी प्रमाणों से करें।

आठवाँ दोष- यह है कि ऋषियों ने जीवात्मा को अपने स्वरूप का भोक्ता नहीं माना, अन्य पदार्थों के स्वरूप का भोक्ता माना है। मोक्ष अवस्था में ईश्वर के नित्यसुख का भोक्ता माना है और संसार में सांसारिक सुख-दुःख का भोक्ता माना है। "जीवात्मा अपने स्वरूप का भोक्ता है" यह किसी वैदिक प्रमाण से सिद्ध होता हो तो, वह प्रमाण बतलावें।

नवमाँ दोष - यह है कि सुख-दुःख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया जाता है, कि जब जीवात्मा मन, इन्द्रियों और प्राकृतिक पदार्थों से सम्बद्ध होता है, तब उसके स्वाभाविक सुख-दुःख गुण अभिव्यक्त हो जाते हैं, वे सांसारिक पदार्थों से उत्पन्न नहीं होते। यह उनकी मान्यता ऋषियों के विरूद्ध है। क्योंकि ऋषि मानते हैं कि आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियाँ बाह्यविषयों=पदार्थों के साथ संबद्ध होती हैं, तब आत्मा को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है अभिव्यक्ति नहीं अर्थात् सांसारिक पदार्थों से ही सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। "सुख-दुःख जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं और वे अभिव्यक्त होते हैं" इस विषय में कोई प्रमाण देवें।

दसवाँ दोष - यह है कि वैदिक सिद्धांत के अनुसार धर्म का

फल सुख और अधर्म का फल दुःख जीव को ईश्वर देता है। यदि ये सुख-दुःख जीव के स्वाभाविक गुण हैं, तो धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख ईश्वर क्यों देता है, क्योंकि वे दोनों गुण जीव के पास पहले ही स्वाभाविक रूप से हैं। अतः उनका ईश्वर के द्वारा देना नहीं बनता।

ग्यारहवाँ दोष -यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स.प्र. के 8 वें समुल्लास में लिखा है कि इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता, न उसका भोग करता है। जो लोग सुख-दुःख को प्रकृति के स्वाभाविक गुण नहीं मानते वे यह बतलावें, कि जीवात्मा प्रकृति के किस गुण व धर्म का भोग करता है।

बारहवाँ दोष - यह है कि स्वामी जी ने स.प्र. के 8 वें समुल्लास में ही "द्वा सुपर्णा...." ऋग्वेद के इस मंत्र के व्याख्या खण्ड में लिखा है, "त्योरन्यः...." इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पाप पुण्य रूप फलों को स्वाद्वत्ति.... अच्छे प्रकार भोगता है, और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को अनश्नन् न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि पाप और पुण्य कर्मों का फल क्या है, जिसे जीवात्मा भोगता है। इसका अभिप्राय यह है कि पाप-पुण्य कर्मों का फल दुःख और सुख है जिसको ईश्वर जीव को देता है। यदि सुख-दुःख को जीव का स्वाभाविक गुण माना जाता है, तो ईश्वर जीव को सुख-दुःख क्यों देता है। इसका कारण बतलावें।

तेरहवाँ दोष - यह है कि सुख-दुःख को जीव के स्वाभाविक गुण सिद्ध करने के लिए लोग अन्वय व्यतिरेक का आश्रय लेते हैं जो कि प्रसङ्गतः असङ्गत है। उनका यह मानना है कि शरीर में जीव के रहने से सुख-दुःख होते हैं और न रहने से नहीं होते हैं। इस अन्वय व्यतिरेक न्याय से सुख-दुःख गुण जीव के स्वाभाविक सिद्ध होते हैं।

यह अन्वय व्यतिरेक जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर भी घटता है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिन्याँ और कर्मेन्द्रियाँ भी जीव के शरीर में रहने पर ही रहती हैं, न रहने पर नहीं रहती हैं तो क्या ज्ञानेन्द्रिन्याँ और कर्मेन्द्रियाँ जीव की स्वाभाविक मानी जा सकती है?

सुख–दुःख की प्राप्ति में आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों के प्राकृतिक पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने पर जीव को सुख–दुःख की प्राप्ति होती है, नहीं होने पर नहीं होती।

इस अन्वय व्यतिरेक से ऐसा ही क्यों माना जाता है कि सुख–दुःख जीव के स्वाभाविक गुण हैं। इससे यह क्यों न माना जाये कि सुख–दुःख प्राकृतिक पदार्थों के स्वाभाविक गुण हैं। क्योंकि ऋषियों के ग्रन्थों के अनुसार मन इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों के साथ संयोग होने पर जीव को सुख–दुःख की प्राप्ति होती है। जीव के सुख–दुःख गुणों की अभिव्यक्ति नहीं मानी जाती।

जीव के स्वाभाविक सुख–दुःख गुणों की अभिव्यक्ति होती है इसे किसी वैदिक शब्द प्रमाण से सिद्ध करें।

अन्वय व्यतिरेक में अन्य दोष –

जीव के शरीर में रहने पर अविद्या=मिथ्याज्ञान रहता, न रहने पर नहीं रहता। इस अन्वय व्यतिरेक से तो जीव का अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान स्वाभाविक गुण माना जायेगा, जो सर्वथा अनुचित है। अविद्या को जीव का स्वाभाविक गुण मानने पर तो जीवात्मा का मोक्ष ही संभव न हो सकेगा।

जहाँ पर अग्नि होती है, वहाँ धूम होता है और जहाँ पर अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता। इस अन्वय व्यतिरेक से धूम अग्नि का स्वाभाविक गुण सिद्ध नहीं होता। यह केवल अग्नि की विद्यमानता बताने में लक्षण मात्र है। इसी प्रकार जहाँ–जहाँ शास्त्रों में जीव के लक्षण किय गये हैं वहाँ–वहाँ जीव की विद्यमानता को बतलाने के लिए सुख–दुःख को लक्षण के रूप में रखा गया है स्वाभाविक गुण बतलाने

के लिए नहीं। यदि सुख-दुःख को जीव के स्वाभाविक गुणों को बताने के लिए रखा गया है तो इसमें कोई शास्त्रीय प्रमाण देवें। जब जीवात्मा समाधि अवस्था में रहता है, तब वहाँ आनन्द भी रहता है जब यह अवस्था नहीं रहती तब आनन्द भी नहीं रहता। इस अन्वय व्यतिरेक से आनन्द गुण जीव का स्वाभाविक गुण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आनन्द ईश्वर का स्वाभाविक गुण है, जीव का नहीं। अन्वय व्यतिरेक के आध ाार पर जीव के सुख-दुःख गुण स्वाभाविक मानने से ऋषियों के मन्तव्यों में परस्पर विरोध आता है।

अतः ऋषियों ने जीव के लक्षणों में सुख-दुःख को स्वीकार किया है। मोक्ष अवस्था में सांसारिक सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव माना है। इसका सप्रमाण समाधान करें।

चौदहवाँ दोष - यह है कि कुछ लोग प्रशस्तपादभाष्य के आध ाार पर सुख-दुःख को जीव के स्वाभाविक गुण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। प्रशस्तपादभाष्य में तो अधर्म को भी जीव का गुण स्वीकार किया है। यदि अधर्म को जीव का स्वाभाविक गुण मान लिया जाये तो स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य से विरोध आता है। उन्होंने लिखा है, कि दोनों चेतन स्वरूप हैं, स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। (सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास)

यदि जीव का (स्वरूप) स्वभाव पवित्र और धार्मिक है तो अध ार्म उसका स्वाभाविक गुण नहीं हो सकता, और यदि अधर्म उसका स्वाभाविक गुण है तो वह स्वभाव से पवित्र नहीं हो सकता। इस प्रकार अधर्म को जीव का स्वाभाविक गुण मानने पर परस्पर दोष आता है। इसका समाधान करें।

वै. दर्शन के आरंभ में ही धर्म से अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। यदि जीवात्मा का अधर्म गुण स्वाभाविक मान लिया जाता है, तो अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसका उचित समाधान करें।

पन्द्रहवाँ दोष – यह है कि स्वर्ग की कामना वाले सांसारिक व्यक्ति के लिए कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में ऋषियों ने यज्ञ करने का विधान किया है, कि स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति यज्ञ अग्निहोत्र करे। इसका अभिप्राय यह है कि सांसारिक सुख चाहने वाला व्यक्ति यज्ञ करे। यदि सांसारिक सुख जीव का स्वाभाविक गुण है तो उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान व्यर्थ है।

स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखा है कि "जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है।" (अंक 94 आ. रत्नमाला) यदि सुख गुण जीव का स्वाभाविक है तो उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह सांसारिक सुख तो जीव में विद्यमान ही है। इसी प्रकार सांसरिक सुख की प्राप्ति के लिए ऋषियों ने आर्षग्रन्थों में यज्ञ आदि शुभ कर्मों का जो विधान किया है, वह सब निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

सोलहवाँ दोष – यह है कि यदि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण है, तो उसके विनाश के लिए प्रयत्न क्यों करता है, क्योंकि दुःख जीव का स्वाभाविक धर्म होने से उसके प्रतिकूल नहीं हो सकता है। जैसे ज्ञान गुण जीव का स्वाभाविक है, वह उसके प्रतिकूल नहीं होता, वैसे ही दुःख भी प्रतिकूल नहीं होना चाहिए।

सत्रहवाँ दोष – यह है कि दुःख को जीव का स्वाभाविक गुण मानने वाले लोग दुःख निवृत्ति का उपाय भी बतलाते हैं और उसको स्वाभाविक भी मानते हैं। यदि दुःख गुण जीव का स्वाभाविक है, तो उसकी निवृत्ति बतलाना व्यर्थ है, क्योंकि वह किसी भी उपाय से दूर (पृथक) नहीं हो सकता। दुःख गुण को स्वाभाविक बतलाना और उसकी निवृत्ति के उपायों का वर्णन भी करना यह परस्पर विरूद्ध है।

अठारहवाँ दोष – यह है कि वे यह कहते हैं कि जीवात्मा नित्य द्रव्य है, और नित्य द्रव्य के गुण नित्य होते हैं, इसलिए दुःख जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। यदि दुःख गुण जीव का स्वाभाविक है, तो

ऋषियों ने उसको दूर करने के उपाय क्यों लिखे हैं।

उन्नीसवाँ दोष - यह है कि कुछ लोग सुख को जीव का स्वाभाविक गुण सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं, कि एक व्यक्ति लड्डू खाते-खाते जब पेट भर लेता है, तत्पश्चात् उसे लड्डू खाने में सुख नहीं मिलता। यदि सुख गुण लड्डू का हो तो उसका पेट भरने पर भी लड्डू का सुख मिलते रहना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि लड्डू खाते-खाते जब पेट भर जाता है, तब लड्डू खाने वाले व्यक्ति के मन, इन्द्रिय और शरीर की लड्डू से मिलने वाले सुख को ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है, इसलिए लड्डू से मिलने वाले सुख की प्राप्ति भी नहीं होती। यदि उन्हीं लड्डुओं को किसी भूखे व्यक्ति को खिलाया जाये तो निश्चितरूपेण सुख की प्राप्ति होगी। यदि सुख गुण जीव का स्वाभाविक है तो लड्डू खाने वाले व्यक्ति का पेट भर जाने पर भी जीवात्मा को अपने नित्य सुख की प्राप्ति क्यों नहीं होती इसका उचित समाधान करें।

बीसवाँ - यह है कि सुख-दुःख को जीव के स्वाभाविक गुण मानने वाले लोगों ने न्यायदर्शन के आधार पर प्रतिज्ञा आदि .... अवयवों के द्वारा अभी तक अपने पक्ष की सिद्धि और विपक्ष का खण्डन नहीं किया। जबकि मैंने अपने पांचवे लेख में प्रतिज्ञा आदि अवयवों के द्वारा साधर्म्य और वैधर्म्य से अपने पक्ष की सिद्धि और विपक्ष का खण्डन किया है।

इक्कीसवाँ दोष - यह है कि कुछ लेखक " सुख दुःख गुण जीव के स्वाभाविक है" इस मुख्य विषय को छोड़कर अन्य विषय में लिखते रहते हैं, और कुछ लेखक अपने विषय की उचित स्थापना और विपक्ष के प्रश्नों का उचित उत्तर नहीं देते, तथा कुछ अपने पक्ष की स्थापना तो कर देते हैं, पर विपक्ष की ओर से उठाये गये आक्षेपों का उत्तर नहीं देते हैं। इस प्रकार के लेख लिखने से सत्यासत्य का निर्णय करने में कोई सहायता नहीं मिलती। अतः प्रमाण और तर्क से अपने पक्ष की स्थापना और विपक्ष के आक्षेपों का उत्तर देना मुख्य कार्य है।

बाइसवाँ दोष – यह है कि कुछ लोग न तो वेदों का स्वाध्याय करते, न ऋषिकृत ग्रन्थों को पढ़ने, न ही हमारे लेखों को पढ़ते और अपने लेखों में व वार्तालापों में उन्हीं बातों को बार-बार उठाते हैं, जिनका हम उत्तर दे चुके हैं, जैसे कि-सुख-दुःख को प्रकृति का गुण मानने में क्या प्रमाण है, और जीव के स्वाभाविक गुण कौन-कौन से है? इसका उत्तर यह है, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स.प्र. के 9 वें समुल्लास में पंच कोशों का वर्णन करते हुए कारण प्रकृति को आनन्द का आधार बतलाया है।

वह आनंद गुण न तो जीवात्मा का है और न ईश्वर का वह सांसारिक सुख है, जो कि प्रकृति का धर्म है। क्योंकि स्वामी जी ने जीव को पंच कोशों से भिन्न स्वीकार किया है, और स.प्र. के आठवें समुल्लास में जीव को प्रकृति का भोक्ता लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि सुख-दुःख गुण प्रकृति के हैं, और जीवात्मा उनका भोक्ता है। जीव के स्वाभाविक गुणों के विषय में दयानंद सरस्वती जी ने स.प्र. नवमसमुल्लास में जीव के 24 स्वाभाविक गुणों को स्वीकार किया है, जो कि मुक्ति में भी विद्यमान रहते हैं। इन 24 स्वाभाविक गुणों में सुख-दुःख को स्वीकार नहीं किया है।

कुछ लोग इस प्रसङ्ग में आये जीव के 24 गुणों में प्रेम शब्द का अर्थ सुख और द्वेष का अर्थ दुःख बतलाते हैं और उन्हें जीव के स्वाभाविक गुण बतलाते हैं जो कि नितान्त असङ्गत है। क्योंकि ऋषिकृत ग्रन्थों में मोक्ष अवस्था में सांसारिक सुख-दुःख का अत्यंत अभाव माना है और न्याय दर्शन में जीव के लक्षण " इच्छाद्वेष...." सूत्र में द्वेष और दुःख शब्द को अलग-अलग पढ़ा है, यदि द्वेष शब्द का अर्थ दुःख होता तो लक्षणसत्र में दुःख और द्वेष का अलग-अलग पढ़ना व्यर्थ है।

इस लेख में सुख-दुःख को जीवात्मा के स्वाभाविक गुण मानने में जो-जो दोष आते हैं, उनमें से अनेकों को उपस्थित किया गया है जो लोग सुख-दुःख को जीव के स्वाभाविक गुण मानते हैं वे वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के प्रमाणों से उचित समाधान करें।